I.S.S.N. 0975-6531

यू.जी.सी. केयरलिस्ट में सम्मिलित

वैचारिकी

भारतीय संस्कृति-साहित्य की शोध द्वैमासिकी

सितंबर-अक्टूबर 2024 * भाग 40 - अंक 5

भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता

वैचारिकी

भारतीय विद्या मन्दिर की द्वैमासिक शोध पत्रिका

अध्यक्ष-प्रधान सम्पादक

डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

सम्पादक

डॉ. बाबूलाल शर्मा

प्रबंध सम्पादक

शंकरलाल सोमानी

योगः कर्मसु कौशलम्

कार्यालय

भारतीय विद्या मंदिर

12/1, नेली सेनगुप्ता सरणी

कोलकाता-700 087

दूरभाष : 033-71001614

मो. : 09830559364

ई-मेल : bvm.vaichariki@gmail.com

Website : www.bharatiyavidyamandir.org

सदस्यता शुल्क

वार्षिक 450/- रुपये

द्वैवार्षिक 900/- रुपये

भुगतान

Payee's Name:

BHARATIYA VIDYA MANDIR

Current A/c No. : 32030320176

Bank : STATE BANK OF INDIA

Branch: New Market

IFSC Code No. : SBIN0004662

ISSN 0975-6531 **भाग : 40 अंक : 5**

वैचारिकी

धर्म-दर्शन-विज्ञान, साहित्य-लोकसाहित्य, इतिहास-पुरातत्व, कला-लोककला

यू.जी.सी. केयरलिस्ट में सम्मिलित

सितंबर-अक्टूबर, 2024 ✷ भाद्रपद कृष्ण 14, कार्तिक कृष्ण 14, वि. सं. 2079-80 ✷ ₹ 50/-

अनुक्रम

- **अध्यक्षीय** 3
- **संपादकीय** 5
- **हिंदी व्याकरणेतिहास का परिचयात्मक अध्ययन**
  धर्मवीर 10
- **तमिलनाडु में हिंदी साहित्य सृजन**
  डॉ. सुनीता जाजोदिया 16
- **देवनागरी ने ही देश को एक सूत्र में बाँधे रखा है**
  आर.सी. ठाकुर 22
- **हिन्दी भाषा में आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान विषयक शब्दों का स्वरूप**
  सीताराम गुप्ता 25
- **सिंधी भाषा का सौष्ठव**
  भगवान अटलानी 29
- **समकालीन हिंदी रंगमंच की दशा और दर्शक**
  तेजस पूनियां 35
- **गांधी का स्वराज : प्रभाव और विस्तार**
  डॉ. अभिलाष कुमार गोंड 41
- **अहिंसक प्रतिरोध : गांधी और वर्तमान**
  चित्रा माली 47
- **कला और सौन्दर्य**
  डॉ. अमरसिंह वधान 52
- **वैदिक संस्कृति में देवी-देवताओं की सांगीतिक स्थिति**
  डॉ. वन्दना चौबे 57
- **राजस्थानी-राजपूत लघुचित्र शैलियों में कृष्ण-लीला चित्रांकन**
  डॉ. विकास चन्द्र 62
- **गीताप्रेस गोरखपुर का लीला चित्र मंदिर**
  डॉ. रेनू शाही 72
- **रज़ा पुस्तकालय में संग्रहित मुगल-शैली के लघुचित्र**
  रुचि सक्सेना 79
- **सुरम्य बूंदी**
  ललित शर्मा 87
- **मारवाड़ के लोकसाहित्यिक संदर्भ**
  निशा 91
- **पाठक मंच** 95

आवरण चित्र : बूंदी की चित्रशाला और साझियां, सौजन्य : हिंद की सांस्कृतिक विरासत ह्वाट्सएप ग्रुप।

- प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक-प्रकाशक की अनुमति आवश्यक।
- प्रकाशित लेखादि में अभिव्यक्त विचारों से प्रकाशक-सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।
- समस्त विवादों के लिए न्यायालय क्षेत्र कोलकाता।

अध्यक्षीय

राष्ट्रीय चेतना के अभाव में जब किसी देश के नागरिक अपना व्यक्तिगत और सामाजिक उत्तरदायित्व नहीं समझते हैं तब सुसंगठित और सशक्त राष्ट्र के विकास में बाधा पड़ती है तथा आंतरिक और बाहरी देशविरोधी शक्तियां सक्रिय हो जाती हैं।

आज आंतरिक देशविरोधी शक्तियां देश को जाति-पंथ और धर्म के नाम पर बांट रही हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि 21वीं शताब्दी के आधुनिक भारत में जातिवाद और संकीर्णता के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। कुछ समूह अपने सीमित स्वार्थ के लिए इस तरह के मुद्दों को हवा देते हैं। धर्मों और पंथों के अपने आंतरिक तनाव हैं। कुछ तनाव दुराग्रहजनित हैं और कुछ राजनीतिप्रेरित। शिक्षा में सार्वभौम मानवीय मूल्यों पर जोर नहीं दिया जा रहा है। किसी भी समस्या का समाधान संवाद से -- बातचीत के जरिये -- समझने और समझाने की प्रक्रिया के तहत न होकर, हिंसा पर आधारित हो चला है। चाहे वह वाचिक हिंसा हो या वास्तविक हिंसा।

चुनाव जीतने के प्रयास में आर्थिक और अन्य किस्म के प्रलोभन अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं और देश का हित कहीं पीछे छूट जाता है। इससे देश को बहुत नुकसान हो रहा है। हमारे देश और समाज के अधिकांश नेतृत्वकर्ता - चाहे वे राजनीतिक दलों के नेता हों या धार्मिक पंथों के आचार्य - देश के प्रति पूरी तरह प्रतिबद्ध नहीं हैं। दुख की बात यह है कि वे दल और पंथ के विस्तार के बारे में तो सोचते हैं पर देशहित उनकी प्राथमिकता नहीं है। जबकि आवश्यकता इस बात की है कि हम सभी देशवासी संगठित होकर राष्ट्रहित में कार्य करें।

देश का व्यवसायी वर्ग देश के विकास में अपना योगदान दे रहा है। उन्होंने कुछ स्कूल-कॉलेज, विश्वविद्यालय और अस्पताल स्थापित कर राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया को गति दी है लेकिन राष्ट्रप्रेम को जागृत करने और देश को सुगठित और संगठित करने का अत्यंत आवश्यक काम जैसा होना चाहिए था, वह मुझे कुछ कम दिखाई दिया।

कोई भी देश तभी उन्नति कर सकता है जब वह आत्मनिर्भर बने और उसकी सोच अग्रगामी हो। राष्ट्र की प्राथमिकताओं पर आधारित शोध और विकास का -- रिसर्च एण्ड डिवेलपमेंट का -- कार्य भारत में उसी तरह होना चाहिए जैसा कि संसार के विकसित देशों में देखने में आता है।

परिवर्तन की गति बहुत तेज है। बदलाव की दर रैखिक अथवा एकआयामी न होकर अत्यंत वर्धित और बहुआयामी है। इसलिए हम सबको, खासकर हमारे व्यापारिक घरानों और कॉरपोरेट प्रतिष्ठानों को और अधिक जागरूक तथा उत्तरदायी होना होगा।

- डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

प्रतिस्वर

पूरे साढ़े चार महीने अमेरिका के हर्डन वर्जिनिया में रही। 15 अगस्त को भारत वापस लौटी हूँ। मार्च-अप्रैल और मई-जून अंक देखे। अध्यक्षीय पढ़ा बोधप्रद है। भारतीय विद्या मंदिर द्वारा जिस कार्य को करने का दिशा संकेत किया गया है वह स्तुत्य उपक्रम है। Work skill perfection के लिए कठोर परिश्रम लगन एकनिष्ठता आवश्यक है ही साथ ही प्रत्येक व्यक्ति में हमारे देश के प्रति उसमें प्राप्त साधन संपत्ति जीवन मूल्यों के संरक्षण की उदग्र इच्छा भी होनी चाहिए। हमारा देश संस्कृति, साधन संपत्ति और जीवन-मूल्यों को सहेजने में कितना अमीर धनवान है यह तो विदेश की भूमि पर पैर रखते ही पता लग जाता है। पथ-पथ पग-पग पर उसके प्रत्यक्ष दर्शन का सौभाग्य मुझे मिला। गत पंद्रह वर्षों से मैं इसका अनुभव कर कर रही हूँ। आज अमेरिका भौतिक सुख समृद्धि से भरा पूरा है पर आत्मिक शांति शून्य है। वह भारत के प्रति ईर्ष्यालु है कहीं उसके मन में यह अतृप्ति का भाव है कि हम भारत में क्यों पैदा नहीं हुए। यहाँ के छोटे से छोटे और गरीब से गरीब व्यक्ति में नीति मूल्यों को सहेजने की आदत कहिए, विचार कहिए या स्वभाव कहिए कुछ भी कहें वह बड़ा गहरा है। आज अमेरिका का व्यक्ति भारत को बड़ी उच्च सम्मान की दृष्टि से देखता है। स्कूलों में संस्कृति सम्पन्नता और जीवन मूल्यों को किस प्रकार से दृढ़ किया जाय पाठ्यक्रम में उसका अंतर्भाव किया जाय इसका विचार किया जा रहा है।

डॉ. विद्या केशव चिटको
8, 'यमाई', अक्षर कॉलोनी, समर्थ नगर
नासिक-422005, महाराष्ट्र
मो.-9527313387

वैचारिकी के कुछ पाठकों ने फोन पर सूचित किया है कि Vaichariki नाम से अंग्रेजी में एक पत्रिका प्रकाशित हो रही है जो तीन हजार रुपये लेकर लेख प्रकाशित करती है। सभी को सूचित किया जाता है कि उक्त अंग्रेजी पत्रिका से भारतीय विद्या मंदिर और इसकी हिन्दी पत्रिका वैचारिकी का कोई संबंध नहीं है। हमारी पत्रिका वैचारिकी में केवल स्तरीय प्रकाशन योग्य लेख सम्पादक द्वारा स्वीकृत होने पर ही प्रकाशित किए जाते हैं और इसके बदले कोई धनराशि नहीं ली जाती है। हाँ, पत्रिका की सदस्यता (वार्षिक-450.00 रु., द्विवार्षिक-900.00 रु.) लेने का अनुरोध अवश्य किया जाता है।

- प्रबंध सम्पादक

संपादकीय

शिक्षक दिवस, हिन्दी दिवस, गांधी-शास्त्री जयंती, दशहरा, दीपावली की हार्दिक शुभकामनाएं!

राजभाषा हिन्दी : एक विमर्श

राजभाषा वह जिसमें राज या सत्ता समझे अथवा व्यवहार करें। सल्तनत काल से मुगल काल अर्थात 12वीं से 18वीं शताब्दी ई. तक हिन्दुस्तान की राजभाषा फारसी रही और इसके बाद 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति तक ब्रिटिश काल में अंग्रेजी रही। जिनको राज से काज हुआ उन्होंने गुलामी के पहले दौर में फारसी-उर्दू तथा गुलामी के दूसरे दौर में अंग्रेजी सीखी। लेकिन अंग्रेजी राज-काज तक ही सीमित न रह कर व्यापक रूप से वैश्विक ज्ञान का स्त्रोत व आधुनिकता का आधार बनकर कई प्रबुद्ध हिन्दुस्तानियों की प्रियभाजन हो गई जो स्वतंत्रता के बाद मजबूरी हो गई, क्योंकि 'राज' अभी भी अंग्रेजी में ही समझ रहा था।

अब चूंकि स्वतंत्र हो गये थे अतः गुलामी के दूसरे दौर की भाषा अंग्रेजी की जगह किसी हिन्दुस्तानी भाषा को राजभाषा बनाने पर जोर दिया गया। शताब्दियों से सत्ता का केन्द्र रहे दिल्ली व उसके आस-पास हरियाणा तथा पश्चिमी उ.प्र. के भू भाग में बोली जाने वाली खड़ी बोली (ब्रज, अवधी जैसी 'पड़ी' बोलियों के बरअक्स 'खड़ी') अथवा हिन्दी को राजभाषा और उर्दू की जगह देवनागरी को उसकी लिपि तथा उसे संस्कृत शब्दों से समृद्ध करने का विधान बनाया गया। परंतु अंग्रेजी की फांस लग गयी। राजभाषा 1963 में हिन्दी के साथ अंग्रेजी को भी संसद द्वारा राजभाषा घोषित कर दिया गया। कहा गया भारत का एक भी राज्य हिन्दी का विरोध करेगा तो हिन्दी को राष्ट्रभाषा (अर्थात अखिल राष्ट्र की राजभाषा) नहीं बनाया जा सकता। जैसे कि हम हैं कि राष्ट्रीयता की बात आते ही बगलें झाँकने लगते हैं, सो राष्ट्रकवि, हिन्दी के लेखकों-संस्थाओं, हिन्दी से रोजी-रोटी कमाने वालों को काठ मार गया और ये सब पं. नेहरू की हाँ में हाँ मिलाने लग गये। संसद में एकमात्र सेठ गोविन्ददासजी ने इस अधिनियम के विरुद्ध मत देते हुए कहा-- 'भले ही मुझे कांग्रेस छोड़नी पड़े, पर मैं आँखों देखते यह विष नहीं पी सकता।' अस्तु, अभी हिन्दी भारत की 22 राष्ट्रीय अर्थात राष्ट्र की विभिन्न प्रांतीय भाषाओं में से एक है जो जैसे-तैसे अंग्रेजी की पिछलग्गू राजभाषा है, इसके अतिरिक्त हिन्दीतर प्रांतों की अपनी-अपनी राज भाषाएं हैं।

राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का विरोध करने वाले एक क्या कई राज्य हैं, यहाँ तक कि

हिन्दी क्षेत्र 'क' में सम्मिलित राज्यों की कई क्षेत्रीय भाषाओं की भी अपनी-अपनी अस्मिताएं जगी हुई हैं, सो वास्तविक राजभाषा तो अंग्रेजी ही बनी हुई है और शिक्षा के क्षेत्र में बढ़ रहा अंग्रेजी का दब-दबा उसे राष्ट्रभाषा बनने की ओर अग्रसर कर रहा है। एक खुशफ़हमी फैली हुई है कि विदेशों में हिन्दी झण्डे गाड़ रही है, पता नहीं, अपने देश में तो हिन्दी...... ?

X X X X

एक जिज्ञासा होती है कि हिन्दी भाषा-साहित्य के इतिहास के आदिकाल और मध्यकाल में कौरवी (जिसमें विपुल लोक-साहित्य है और इसका शब्दकोश भी निर्मित हुआ है) तथा खड़ी बोली की जगह क्रमशः राजस्थानी और ब्रज-अवधी जैसी साहित्यिक दृष्टि से अत्यंत समृद्ध भाषाओं को क्यों रखा गया। यह राजनीति ही थी कि राजस्थानी को पश्चिमी हिन्दी और ब्रज-अवधी को पूर्वी हिन्दी घोषित किया गया। इस प्रसंग में खड़ी बोली अर्थात हिन्दी की अपनी स्वरूपगत एवं साहित्यिक परम्परा को देखा जा सकता है।

राहुल सांकृत्यायन एवं डॉ.भोलानाथ तिवारी खड़ी बोली का विकास कौरवी से मानते हैं और यह मत सर्वमान्य है। कौरवी अर्थात कुरु जनपद की भाषा। कुरु जनपद में वर्तमान दिल्ली (इन्द्रप्रस्थ), मेरठ, अलीगढ़ (हस्तिनापुर) तथा हरियाणा (कुरुक्षेत्र) एवं पश्चिमी उ.प्र. के भू भाग हैं। इसका ठेठ रूप मेरठ, बिजनौर, मुरादाबाद में माना जाता है। कौरवी में लोक-साहित्य (गीत, नाटक, कथा, गप्प पहेली) उपलब्ध है। इसका एक नमूना द्रष्टव्य है-- कोई बादसा था। साबा उसके राण्यां थी। वो एक रोज़ अपनी रान्नी से कहने लगा मेरे समान और कोई बादसा है बी ? तो बड़ी बोल्ले के राजा तुम समान और कौन होगा। छोटी बी से पूच्छा तो किह्या कि एक बिजाण सहर हे उसके किल्ले में जितनी तुम्हारी हैसियत है उतनी एक ईंट लगी है। ओ इसने मेरी कुच बात नई रक्खी इसको तग्मारती (निर्वासित) करना चाइए। उस्कू तग्मारती कर दिया। ओर बड़ी कू सब राज का मालक कर दिया। इसी तरह देखें - राम सूं बूझियो के उन्ने तमकूं रपया दे दिया। मन्ने तन्ने एक बात बताणी रहगी। खड़ी बोली की सीमाएं पंजाबी, राजस्थानी, ब्रज, अवधी से लगती हैं जिनका अपना समृद्ध साहित्य है और खड़ी बोली इनसे प्रभावित रही। शौरसेनी अपभ्रंश के उत्तरी रूप से विकसित खड़ी बोली को ग्रियर्सन ने सरहिन्दी, सिरहिन्दी, वर्नाक्युलर (स्थानीय जनपदीय भाषा), हिन्दुस्तानी कहा और डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी भी इसे हिन्दुस्तानी या जनपदीय हिन्दुस्तानी कहते हैं। इन विद्वानों को खड़ी बोली के ये नाम कहाँ से प्राप्त हुए जो पूरे हिन्दुस्तान का भाषाई प्रतिनिधित्व कर रहे हैं अर्थात हिन्दुस्तान की भाषा। वस्तुतः यह मुस्लिम शासकों की देन है वैसे ही जैसे इस देश का नाम 'हिन्दुस्तान', 'हिन्द' ('सिन्धु' नदी और 'सिन्ध' के कारण)। इन शासकों की राजधानी दिल्ली रही अतः उस क्षेत्र की बोली (खड़ी बोली) को उन्होंने हिन्दवी, हिन्दी आदि कहा अर्थात उनके लिए यह बोली पूरे हिन्दुस्तान की भाषा थी। खड़ी बोली के इस नाम का सर्वप्रथम उल्लेख अमीर खुसरो ने किया और उसमें लिखा भी। अतः वही हिन्दी के प्रथम कवि हैं और उनका समय ही हिन्दी का आदिकाल है।

अबुल हसन यमीनुद्दीन अमीर खुसरो का जन्म 1253 ईस्वी में उ.प्र. के एटा जनपद के पटियाली कस्बे में हुआ। 4 बरस की उम्र में इनका परिवार दिल्ली आ गया। 8 बरस की उम्र में ये सूफ़ी संत हजरत निज़ामुद्दीन औलिया के शिष्य बने। 16-17 की उम्र में अमीरों के घर अपनी शायरी पढ़ने लगे और 20 वर्ष के होते-होते कवि के रूप में लोकप्रिय हो गये। 5 साल तक सुल्तान मुहम्मद के साथ मुल्तान रहने के अलावा ये हमेशा दिल्ली में रहे। 'अमीर' की उपाधि प्राप्त खुसरो 8 सुल्तानों के एक विद्वान लेखक के रूप में दरबारी रहते हुए कवि, संगीतज्ञ के रूप में लोकप्रिय रहे। ये पहले मुस्लिम रचनाकार थे जिन्होंने हिन्दी-हिन्दवी और फारसी दोनों भाषाओं में खूब लिखा। सबसे पहले उन्होंने अपनी भाषा का नाम 'हिन्दवी' लिखा। वे 'तोता-ए-हिन्द' कहे जाते

थे। इनके द्वारा रचित पहेलियाँ, कहमुकरियाँ, गज़ल, पद, दोहे, ख्याल, कव्वाली, रुबाई, तखना खूब लोकप्रिय हुए। इनके द्वारा रचित खलिकबारी (कोश ग्रंथ), हालात-ए-कन्हैया, नजराना-ए-हिन्दी ग्रंथ सुविदित हैं। इनेक अलावा फारसी में 14 ग्रंथ हैं। इनके हिन्दवी या हिन्दी रचनाओं के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य--

खुसरो दरिया प्रेम का, उलटी वा की धार।
जो उबरा सो डूब गया, जो डूबा हुवा पार।।

X X X X

छाप तिलक सब छीनी रे, मोसे नैना मिलाइके।
प्रेम भटी का मदवा पिलाइके, मतवारी कर लीन्ही रे, मोसे नैना मिलाइके।
गोरी गोरी बइयाँ, हरी हरी चूड़ियाँ, बईयाँ पकड़ धर लीन्ही रे, मोसे नैना मिलाइके।
बल बल जाऊं मैं, तोरे रंगरजवा, अपनी सी रंग दीन्ही रे, मोसे नैना मिलाइके।
खुसरो निजाम के बल बल जाए, मोहे सुहागन कीन्ही रे, मोसे नैना मिलाइके।
छाप तिलक सब छीनी रे मोसे नैना मिलाइके।

अमीर खुसरो को खड़ी बोली या हिन्दवी भाषा को प्रचलन में लाने का श्रेय है। फारसी और हिन्दी, दोनों में साथ-साथ लिखने का उदाहरण बड़ा रोचक है :

अमीर खुसरो की ग़ज़ल- ज़िहाल-ए मिस्कीं मकुन तगाफ़ुल, दुराये नैना बनाये बतियां। कि ताब-ए-हिजरां नदारम ऐ जान, न लेहो काहे लगाये छतियां। शबां-ए-हिजरां दरज़ चूं ज़ुल्फ़ वा रोज़-ए-वस्लत चो उम्र कोताह, सखि पिया को जो मैं न देखूं तो कैसे काटूं अंधेरी रतियां। यकायक अज़ दिल, दो चश्म-ए-जादू ब सद फ़रेबम बाबुर्द तस्कीं, किसे पड़ी है जो जा सुनावे, पियारे पी को हमारी बतियां।। चो शम्मा सोज़ान, चो ज़र्रा हैरान हमेशा गिरयान, बे इश्क आं मेह। न नींद नैना, ना अंग चैना, ना आप आवें, न भेजें पतियां।। बहक्क-ए-रोज़े, विसाल-ए-दिलबर कि दाद मारा, गरीब खुसरौ। सपेट मन के, वराये राखूं जो जाये पांव, पिया के खटियां।।

आजीवन अविवाहित रहे नेक दिल अमीर खुसरो का देहांत 1325 ई. में हुआ।

अमीर खुसरो से आगे बढ़ने पर खड़ी बोली हिन्दी का एक उद्धरण गद्यांश देखने योग्य है जिसे श्री रामधारी सिंह दिनकर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'संस्कृति के चार अध्याय' में मुगल बादशाह अकबर के दरबारी कवि गंगाधर भट्ट अर्थात गंग कवि (1538-1625 ई.) की खड़ी बोली में लिखित पुस्तक 'छंद बरनन की महिमा' से उद्धृत किया है-- 'सिद्धि श्री 108 श्री श्री पातसाहिजी श्री दलपतिजी अकबरसाहजी आमखास में तखत ऊपर विराजमान हो रहे और आमखास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय आय कुर्निश (सलाम) बजाय जुहार करके अपनी-अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनी-अपनी मिसल से। जिनकी बैठक नहीं सो रेसम के रस्से में रेसम की लूमें पकड़ के खड़े ताजीम में रहे।..... इतना सुन के पातसाहिजी श्री अकबरसाहजी आद सेर सोना नरहरदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रास बंचना पूरन भया। आमखास बरखास हुआ।'

इस उद्धरण में प्रसिद्ध राजस्थानी रचना 'अवतार चरित' अथवा 'अवतार गीता' के रचनाकार नरहरदास चारण की रचना दरबार में बादशाह अकबर द्वारा सुनने और उन्हें डेढ़ सेर (120 तोला) सोना बख्शीश का उल्लेख है।

14वीं शताब्दी में सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक ने अपनी राजधानी दिल्ली से दौलताबाद (महाराष्ट्र) स्थानांतरित करली थी और राजकाज से जुड़े लोग भी बड़ी संख्या में दिल्ली से स्थानांतरित हुए जिनकी बोली खड़ी बोली हिन्दी थी। इनके द्वारा दक्षिण में खड़ी बोली का प्रचार, स्थानीय लोगों की परस्परिकता के कारण,

एक नई तरह की शैली में हुआ जिसमें फारसी, अरबी, मराठी, तेलुगु आदि भाषाओं के शब्दों का समावेश हुआ। इसे दक्खिनी अथवा दक्खिनी हिन्दी कहा गया। दक्षिण में स्थापित हुई बहमनी सल्तनत की राजधानी कर्नाटक में अहसानाबाद (वर्तमान गुलबर्गा) बनी। इस सल्तनत में दक्खिनी हिन्दी का खूब प्रचार हुआ जो कुतुबशाही, आदिलशाही के दौर में महत्त्वपूर्ण बनी रही। इसमें गद्य और पद्य दोनों में उत्कृष्ट रचनाएं हुई। परन्तु राजनीतिक परिवर्तन के कारण इसका गौरव कम होता गया। तथापि डॉ. जियाउद्दीन शक़ेब के अनुसार "दक्खिनी आज भी आंध्रप्रदेश (तेलंगाना सहित), तमिलनाडु और कर्नाटक में आम आदमी की बोली है जिसनें हिन्दुस्तान की कई जुबानों को अपने में समेटा है।" वर्तमान में भी इसमें रचना हो रही है। इसके वर्तमान स्वरूप को जानने के लिए 1922 में जन्मे दक्खिनी के लोकप्रिय कवि मोहम्मद सुलेमान खतीब की संवादात्मक नज़्म की पक्तियाँ प्रस्तुत हैं-- जिन्हें 'पुष्पक साहित्यिकी' के 25वें अंक में प्रवीण प्रणव ने उद्धृत किया है-- "महबूबजी-गुल्ले फुगाँ कू बैठी है/अच्छी सुरत जला कू बैठी है/ कल्ले गुस्से से लाल हो जा रईं/धूप हटते ही फुलां मुरझा रईं/काए कू कड़वा करेला बन जा रईं/मुंह पो मकरेया के जाले तन जा रईं। महबूबी-छेड़खानी नव्को करो देखो/के जी नन्ही से छोकरी समझे/काए को सर पे उठा के फिरते हो/मंजे फूलों की टोकरी समझे।"

कुछ वर्ष पूर्व हम्पी (कर्नाटक) की कन्नड़ यूनिवर्सिटी में वाल्मीकि पीठ द्वारा आयोजित सेमिनार में जाना हुआ। इसमें कन्नड़ भाषी और हिन्दी भाषी वक्ता थे। हिन्दी भाषी वक्ताओं के सत्र का अध्यक्ष मैं था। मेरा ख्याल था कि सभागार में उपस्थित 250-300 श्रोता कन्नड़ भाषी थे। परंतु हिन्दी व्याख्यानों में भी कुछ श्रोता बीच-बीच में तालियाँ बजा रहे थे। मेरे अध्यक्षीय व्याख्यान के साथ सत्र समाप्ति पर 15-20 श्रोता मुझसे मिले और व्याख्यानों को लेकर सराहना व्यक्त की । मैंने आश्चर्य व्यक्त किया कि आप तो कन्नड़ हैं, हिन्दी व्याख्यान समझ रहे थे ? उन्होंने कहा, सर ! हम मुस्लिम हैं, कर्नाटक में मुस्लिम कन्नड़ के साथ-साथ हिन्दी में बोलते-बतियाते हैं, हाँ हमारी बोली दक्खिनी हिन्दी है।

खुसरो के बाद कबीर (1398-1518) की रचनाएं खड़ी बोली हिन्दी में हैं जिसके उदाहरण सर्वविदित हैं और जिनकी भाषा को अनावश्यक रूप से 'सधुक्कड़ी' नाम दे दिया गया। वस्तुतः पूरा संत-काव्य खड़ी बोली हिन्दी में हैं। बादशाह अकबर (1556-1605) के दरबारी रहीम, गंग, बीरबल आदि खड़ी बोली हिन्दी में पद्य-गद्य रच रहे थे।

डॉ. ओमप्रकाश पांडेय का मत समीचीन है कि आज जिस रूप में हिन्दी बोली-लिखी जा रही है उसका प्रारम्भिक स्वरूप 225 वर्ष पुराना (अर्थात सन् 1800 ई. का) है। एम.टी. पादरी ने 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लिखी अपनी पुस्तक 'हिन्दी व्याकरण' में हिन्दुई और हिन्दुस्तानी की जगह खड़ी बोली के लिए हिन्दी संबोधन लिख। कोलकाता के फोर्ट विलियम कॉलेज में प्रो. गिलक्राइस्ट के निर्देशन में कार्य कर रहे लल्लूलालजी अपने ग्रंथ 'प्रेम सागर' में इसे खड़ी बोली तथा दिल्ली-आगरा की भाषा लिखते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा ने इस भाषा का आधुनिककालीन विकास आगरा में हुआ माना है जहाँ इसके द्वित्व एवं णकार प्रधान शब्दों ने वर्तमान रूप ग्रहण किया जैसे मन्नै-मैंने, तन्नै-तैंने, तुमने, अपणापण-अपनापन आदि। गार्सा-द-तासी ने इसे 'हिन्दुई', गिलक्राइस्ट ने 'हिन्दुस्तानी' और विलियम प्राइस ने 'हिन्दी' नाम से कहा। 1802 में हिन्दी की 98 पन्नों की पहली पुस्तक छपी जो अब्दुल्ला मिस्कीन द्वारा गद्य में लिखा मरसिया था। फिर 1826 में 'उदन्त मार्तण्ड' से समाचार पत्रों का मुद्रण-प्रकाशन प्रारम्भ हुआ तो खड़ी बोली हिन्दी के गद्य की धूम मच गई। इसकी इस गद्यात्मकता ने ही इसे देश की सम्पर्क भाषा और फिर राजभाषा का गौरव प्रदान किया। वस्तुतः सल्तनत काल से ही खड़ी बोली (हिन्दी) सम्पर्क भाषा की भूमिका अदा करने लगी थी और आधुनिककाल आते-आते यह भूमिका देश-व्यापी हो गई। राजस्थानी, ब्रज, अवधी सामान्यतः केवल पद्य भाषाएं रही और मध्यकालीन सत्ता केन्द्र से दूर

अपने क्षेत्रीयता में रही। आधुनिककाल में हिन्दी में पद्य रचना के लिए अयोध्या प्रसाद खत्री (1858-1905) को जबरदस्त पैरवी करनी पड़ी, तब ब्रज भाषा को ही काव्य-भाषा मानने वाले भारतेन्दु (1850-1885) और उनके मंडल के रचनाकार लेखक हिन्दी में पद्य रचना हेतु प्रवृत्त हुए।

निश्चित ही राजस्थानी, ब्रज, अवधी स्वतंत्र भाषाएं हैं, इनका खड़ी बोली हिन्दी पर प्रभाव पड़ा, परंतु हिन्दी साहित्य के इतिहास में, खड़ी बोली हिन्दी की जगह प्रारम्भिककाल में राजस्थानी की रचनाओं और मध्यकाल में अवधी-ब्रजी की रचनाओं का समावेश क्यों किया गया, पता नहीं, राजनीति हो सकती है? नागर या गुर्जर अपभ्रंश से विकसित राजस्थानी भाषा को तो सुप्रसिद्ध भाषाविद डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने स्पष्ट रूप से हिन्दी से अलग भाषा माना और केन्द्र सरकार की साहित्य अकादमी के प्रथम अध्यक्ष होने पर उन्होने इसे साहित्य अकादमी की भाषाओं में सम्मिलित कर एक स्वतंत्र भाषा की मान्यता दी जबकि केन्द्र सरकार ने इसे संविधान की 8वीं सूची में मान्यता नहीं दी, यह अपने-आप में अंतर्विरोध ही है। राजस्थानी भाषा-साहित्य के इतिहास के तो साहित्य-सृजन की दृष्टि से अपने समृद्ध आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिककाल है।

-डॉ. बाबूलाल शर्मा

1844 ई. की हिन्दी का एक उदाहरण

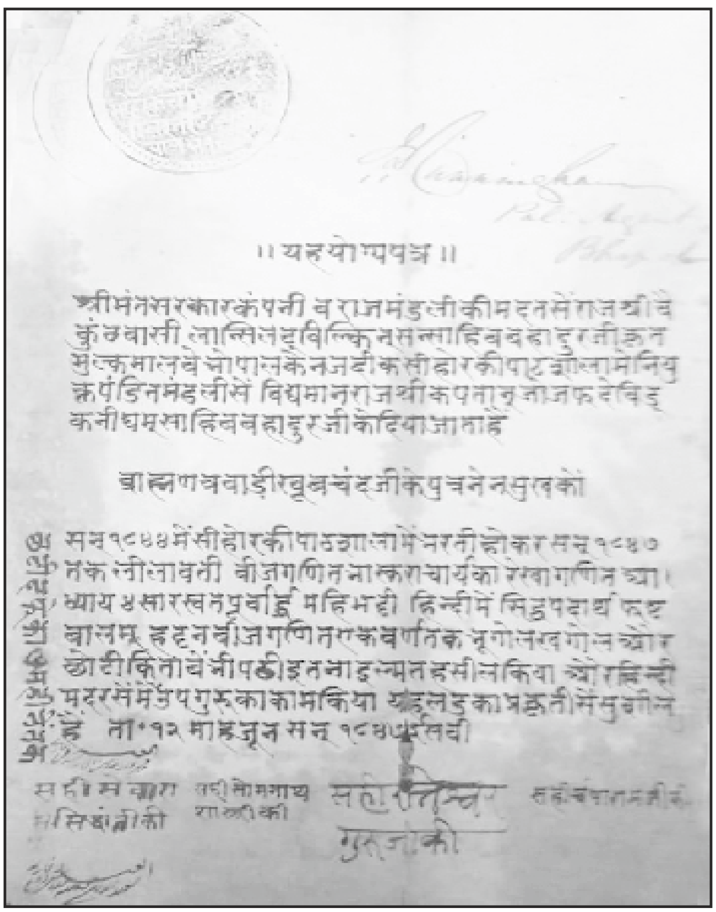

॥ [illegible] ॥

श्रीमंतसरकारकंपनी व राजमंडलीकी मदतसे राजश्री वे
कुंठवासी लान्सिलट् विल्किन्सन साहिब बहादुरजीकृत
मुल्क मालवे भोपालके नजदीक सीहोरकी पाठशालामें नियु
क्त पंडितमंडलीसें विद्यमान राजश्रीकृपानु [illegible] देविड्
कनीघम साहिब बहादुरजीको दिया जाता है

ब्राह्मण [illegible] खूबचंदजीके पुत्र नेनसुखको

सन १८४४ में सीहोरकी पाठशालामें भरती होकर सन् १८४७
तक लीलावती बीजगणित भास्कराचार्यका रेखागणित अध्या
याय ४ सारस्वत पूर्वार्द्ध [illegible] हिन्दीमें सिद्धपदार्थ [illegible]
बालम् [illegible] बीजगणित एक वर्णतक भूगोल खगोल और
छोटी किताबें भी पढ़ी इनका इम्तहान हमीने किया और हिन्दी
मदरसेमें उपगुरुका काम किया यह लड़का प्रकृतीमें सुशील
है ता० १२ माह जून सन १८४[illegible] ईसवी

[illegible] सिद्धांतीकी — [illegible] शास्त्रीकी — सही [illegible] गुरुजीकी

हिंदी व्याकरणेतिहास का परिचयात्मक अध्ययन

धर्मवीर

हिंदी व्याकरण के इतिहास का व्यवस्थित विवरण प्रस्तुत करना दुर्लभ है क्योंकि यह आरंभ से ही उपेक्षित विषय रहा है। हिंदी भाषा के उद्‌भव के लगभग सात सौ वर्षों के बाद सत्रहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में हिंदी व्याकरण का निर्माण कार्य शुरू हुआ। लगभग इसी समय हिंदी में गद्य का प्रादुर्भाव हुआ। यह भी हो सकता है कि हिंदी में गद्य के विकसित न होने के कारण हिंदी व्याकरण निर्माण की ओर ध्यान नहीं गया हो। उस समय संस्कृत की तुलना में लोक भाषाओं का उतना महत्त्व नहीं था। इसलिए विद्वानों का ध्यान हिंदी व्याकरण की ओर नहीं गया। हिंदी व्याकरण के निर्माण की दिशा में प्रारंभिक प्रयत्न करने वाले प्रायः सब विद्वान विदेशी थे। विभिन्न उद्देश्यों से भारत में निवास करने वाले अपने देशवासियों के हिंदी ज्ञान की आवश्यकता का अनुभव करते हुए अनेक विदेशियों ने हिंदी भाषा और व्याकरण के ग्रंथ लिखे।

भारतीय चिंतन दर्शन में व्याकरणों की समृद्ध परंपरा रही है। वैदिक संस्कृत से लेकर 'अपभ्रंश' तक उसका प्रवाह देख सकते हैं। हम व्याकरण की बात करते हैं तो पाणिनि का नाम सबसे पहले ध्यान में आता है। संस्कृत में पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' और प्राकृत-अपभ्रंश में हेमचन्द्र कृत 'सिद्ध हेम शब्दानुशासन' व्याकरण परम्परा में उल्लेखनीय हैं। हिंदी व्याकरण का विकास सहजता से नहीं हुआ। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि पुरानी हिंदी और उससे विकसित बोलियों के विकास के बाद आचार्यों में लोक भाषाओं के प्रति वैसा सम्मान का भाव नहीं था जो उन्हें व्याकरण रचना के लिए प्रेरित करता। भारतीय परंपरा में विद्वानों ने हिंदी भाषा को हेय दृष्टि से देखा। इसलिए हिंदी व्याकरण की बात ही नहीं की। डॉ. अनंत चौधरी 'हिंदी व्याकरण का इतिहास' में लिखते हैं कि-- "हिंदी व्याकरण का निर्माण कार्य, हिंदी भाषा के उद्‌भव के लगभग सात सौ वर्ष बाद, सत्रहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में, हिंदी गद्य के सूत्रपात के साथ ही साथ प्रारंभ हुआ।"[1]

भारतीय हिंदी व्याकरण परम्परा में प्रमुख रूप से इन तीन ग्रंथों को देखा जा सकता है-- सबसे पहला प्रयास दामोदर शर्मा द्वारा रचित 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' को माना गया है। इसमें 11 वीं शती में प्रचलित हिंदी के रूप की चर्चा मिलती है। द्वितीय प्रयास मिर्ज़ा खां द्वारा लिखित 'तोहिफ़त-उल-हिन्द' को माना गया है जिसकी भाषा ब्रज है। यह संगीत का ग्रंथ है पर साथ ही छंद, अलंकार, रस, भाषा के विविध रूपों पर भी प्रकाश डाला गया है। तृतीय प्रयास हेमचंद्र

द्वारा लिखित सिद्ध हेमशब्दानुशासन को मान सकते हैं। यह व्याकरण ग्रंथ हिंदी के पूर्व रूप अपभ्रंश पर लिखा गया है। प्रारंभ काल में हिंदी में साहित्य सृजन पर ही ध्यान केन्द्रित रहा, परंतु बाद में प्रयोग के लिए व्याकरण की आवश्यकता हुई। हिंदी व्याकरण के विद्वान तेज भाटिया ने हिंदी व्याकरण की परम्परा को विदेशी माना है। वे लिखते हैं कि-- "The Hindi grammatical tradition is alien in origin and largely adopted non-native paradigms during the course of its development."[2] हिंदी व्याकरण के निर्माण में दो परंपराएं विद्यमान रही हैं-- "एक हिंदी उर्दू को एक भाषा मानने वालों की अंग्रेजी व्याकरण पर आधारित थी, दूसरी हिंदी को उर्दू से स्वतंत्र भाषा मानने वाली परंपरा का व्याकरण जो संस्कृत व्याकरण पर आधारित थी।"[3] अंग्रेजी व्याकरण पद्धित के माध्यम से हिंदी व्याकरण लेखन में महत्त्वपूर्ण योगदान विदेशी विद्वानों का रहा है। फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना के बाद अंग्रेजी अधिकारियों को हिंदी और भारतीय भाषाओं की जानकारी देने और सिखाने के उद्देश्य से व्याकरण ग्रंथों का निर्माण किया गया।

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में कलकत्ता के फोर्ट विलियम कॉलेज के अध्यक्ष डॉ. गिलक्राइस्ट ने अंग्रेजी में हिंदी का व्याकरण लिखा। उसके बाद हिंदी व्याकरण के अनेक ग्रंथ लिखे गए। हिंदी व्याकरण की रचना में उतरने वाले ऐसे विदेशियों की जोशुआ केटेलेर (1743 ई.) से लेकर केलॉग (1876 ई.) तक एक लंबी परंपरा है। विदेशी भारत में सिर्फ व्यापार ही नहीं करना चाहते थे, वे व्यापार के साथ-साथ यहाँ के शासन को भी हथियाना चाहते थे। पश्चिमी जनों को व्यापार, सत्ता व धर्म के प्रचार के लिए इस देश की जन-भाषा खड़ी बोली जानने की आवश्यकता महसूस हुई। इसी उद्देश्य पूर्ति के लिए उनके बौद्धिक लोग हिंदी व्याकरण के प्रणयन में लगे। "हिंदी भाषा का व्याकरण लिखने का प्रारम्भिक प्रयास विक्रमी 18वीं शताब्दी में मिलता है। औरंगजेब के शासन काल में मिर्ज़ा खां ने ब्रजभाषा का परिचयात्मक संक्षिप्त व्याकरण लिखा और प्रायः उसी समय हालैंड निवासी योहन योशुआ केटेलेर ने हिंदुस्तानी का एक व्याकरण लिखा।"[4] योहन योशुआ केटेलेर ईस्ट इंडिया कंपनी के राजदूत बनकर भारत आए थे। इन्होंने अपने देशवासियों को भारत में हिंदी का सामान्य ज्ञान कराने के लिए व्याकरण ग्रंथ 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' (1698 ई.) की रचना की। इस व्याकरण का परिचय डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ में 'हिन्दुस्तानी का सबसे प्राचीन व्याकरण' शीर्षक लेख में दिया है, "अद्यावधि ज्ञात हिंदी वैयाकरणों में सर्वाधिक प्राचीन होलैंड निवासी योहन योशुआ केटेलेर को माना जा सकता है।"[5] 'केटेलेर' के बाद अन्य यूरोपीय विद्वानों ने व्याकरण ग्रंथ लिखे। उनमें प्रमुख हैं-- डॉ. जान बोर्थविक गिलक्राइस्ट-- 'हिंदुस्तानी ग्रामर' (1801 ई.)। ये कलकत्ता के फोर्ट विलियम कॉलेज में हिन्दुस्तानी भाषा के प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए थे। इन्होंने 'इंग्लिश हिन्दुस्तानी कोष' और 'ए ग्रामर ऑफ हिंदुस्तानी लैंग्वेज' ग्रंथ की रचना की। रॉएबक ने 'दि इंग्लिश एंड हिन्दुस्तानी डिक्शनरी विथ ए ग्रामर प्रिफिक्स्ड' नामक ग्रंथ लिखा। यह व्याकरण ग्रंथ 1811 ई. कलकता से प्रकाशित हुआ। यह व्याकरण ग्रंथ फोर्ट विलियम कॉलेज में पढ़ाया जाता था, जो कि सर्वोत्तम ग्रंथ माना गया। क्लियम येट्स- 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' (इंट्रोडक्शन टू द हिंदुस्तानी लैंग्वेज 1827 ई. कलकत्ता)। प्लाट्स ने हिंदी के व्याकरणिक ग्रंथ 'हिंदुस्तानी ग्रामर' की रचना की। एम टी पादरी आदम साहिब ने 'हिन्दी व्याकरण' नाम से ग्रंथ लिखा। आदम ने हिंदी का पहला कोश भी लिखा। इन्होंने हिंदुस्तानी और हिन्दुई की जगह 'हिंदी' शब्द का प्रयोग किया। केलॉग ने 'ए ग्रामर ऑव हिंदी लैंग्वेज' (1876 ई.) नामक व्याकरण ग्रंथ लिखा जो लंदन से प्रकाशित हुआ। इनका उद्देश्य शुद्ध भाषा-

शास्त्रीय था। केलॉग ने हिंदी प्रदेश में बोली जाने वाली सभी बोलियों के सामूहिक नाम के लिए 'हिंदी' शब्द का प्रयोग किया। इसमें हिंदी व्याकरण के साथ-साथ ब्रज और पूर्वी हिंदी का भी विवेचन किया गया है। विदेशियों द्वारा लिखित सभी व्याकरण ग्रंथों में केलॉग का व्याकरण सर्वोत्तम माना गया है। कामता प्रसाद गुरु ने अपने 'हिंदी व्याकरण' में केलॉग और अन्य विद्वानों के ग्रंथों के बारे में स्पष्ट लिखा है कि-- "भाषा की शुद्धता की दृष्टि से विदेशी लेखक पूर्णतया प्रामाणिक नहीं माने जा सकते।"[6] लल्लू लालजी ने 'दि ग्रैमेटिकल प्रिंसिपल्स ऑफ ब्रजभाषा' (1810 ई.) व्याकरणिक ग्रंथ लिख कर हिंदी जगत् में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

हिंदी व्याकरण के निर्माण के पहले दौर में फोर्ट विलियम कॉलेज में विदेशियों के द्वारा हिंदी व्याकरण का निर्माण किया गया। जिसका उद्देश्य विदेशी अधिकारियों को भारतीय भाषाओं का ज्ञान कराना था। हिंदी व्याकरण के निर्माण के दूसरे दौर में अधिकांश ग्रंथ भारतीय विद्वानों द्वारा लिखे गए। बीसवीं शताब्दी में जन शिक्षा का प्रचार होने लगा था, अतः इस दौर में जनशिक्षा के संदर्भ में हिंदी पढ़ाने का प्रसंग रहा। प्रारंभिक पाठशालाओं में छात्रों को हिंदी बोलना और लिखना सिखाने के लिए पाठ्यक्रम में हिंदी व्याकरण की आवश्यकता हुई। इसी अभाव को दूर करने के लिए छात्रोपयोगी हिंदी व्याकरण ग्रंथों की रचना होने लगी। प्रारंभिक व्याकरण ग्रंथ के रूप में 'भाषा चंद्रोदय' (1855 ई.) सामने आया जो पं. श्रीलाल द्वारा रचित है। 'भाषा चंद्रोदय' का उद्देश्य, आदर्श और आधार तीनों की दृष्टियों से विदेशियों द्वारा लिखित व्याकरणों से भिन्न था। इनके बाद अनेक व्याकरण ग्रंथ लिखे गए पादरी एथ रिंगटन (कशाी निवासी) ने अंग्रेजी भाषा में हिंदी व्याकरण 1870 ई. में लिखा था जो अगले वर्ष हिंदी भाषा में 'भाषा भास्कर' के नाम से रूपांतरित हुआ। यह व्याकरण विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए वरदान साबित हुआ। यह ग्रंथ बहुत दिनों तक छात्रोपयोगी व्याकरणों में सबसे प्रामाणिक माना जाता रहा। शीतलप्रसाद गुप्त-- 'शब्द प्रकाशिका' (1870 ई.), श्री नवीनचंद्र राय- 'नवीन चंद्रोदय' (1869 ई.) और राजा शिवप्रसाद- 'सितारे हिंद'- 'हिंदी व्याकरण' (1875 ई.) आदि ग्रंथ प्रसिद्ध व्याकरण हैं। शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' के व्याकरण पद्धति में अंग्रेजी होने पर भी संस्कृत के सूत्रों का अनुकरण किया गया है। इसमें ये लिखते हैं कि- "हिंदी भाषा में एक भी सर्वमान्य व्याकरण अभी तक नहीं बना।"[7]

कामताप्रसाद गुरु से पहले लिखे गए व्याकरण प्रवेशिका कक्षा के छात्रों को ध्यान में रखकर लिखे गए थे और इस समय तक हिंदी व्याकरण का कोई सर्वमान्य व्याकरण नहीं बन सका था क्योंकि भाषा के परिचित नियमों में एक रूपता और स्थिरता निर्धारित नहीं हो पाई थी। गुरुजी के व्याकरण से ही हिंदी भाषा का एक परिनिष्ठित रूप स्थिर हुआ। उनका हिंदी व्याकरण ग्रंथ हिंदी भाषा के उत्थान में एक नये युग का मार्गदर्शक बनकर आया। गुरु जी ने 'हिंदी व्याकरण' के अतिरिक्त 'भाषा वाक्य पृथक्करण', 'हिंदी बालबोध व्याकरण', 'सहज हिंदी' की रचना की।

गुरु जी अपने हिंदी व्याकरण पद्धति का परिचय देते हुए लिखते हैं कि- "यह व्याकरण, अधिकांश में, अंग्रेजी व्याकरण के ढंग पर लिखा गया है। इस प्रणाली के अनुसरण का मुख्य कारण यह है कि हिंदी में आरंभ ही से इसी प्रणाली का उपयोग किया गया है और आज तक किसी लेखक ने संस्कृत-प्रणाली का कोई पूर्ण आदर्श उपस्थित नहीं किया। वर्तमान प्रणाली के प्रचार का दूसरा कारण यह है कि इसमें स्पष्टता और सरलता विशेष रूप से पाई जाती है और सूत्र और भाष्य, दोनों ऐसे मिले रहते हैं कि एक ही लेखक पूरा व्याकरण, विशद रूप में, लिख सकता है।"[8] वे बिल्कुल भारतीय पद्धति के महत्त्व से परिचित थे, किंतु उसके आधार पर हिंदी का व्याकरण

लिखने में स्वयं को समर्थ नहीं मानते थे। वे लिखते हैं कि "हिंदी भाषा के लिए वह दिन सचमुच बड़े गौरव का होगा जब इसका व्याकरण 'अष्टाध्यायी' और 'महाभाष्य' के मिश्रित रूप में लिखा जाएगा; पर वह दिन अभी बहुत दूर दिखाई देता है। यह कार्य मेरे लिए तो, अल्पज्ञता के कारण, दुस्तर है; पर इसका संपादन तभी संभव होगा जब संस्कृत के अद्वितीय वैयाकरण हिंदी को एक स्वतंत्र और उन्नत भाषा समझकर इसके व्याकरण का अनुशीलन करेंगे।"[9]

वस्तुतः इस अवधि में किसी भारतीय विद्वान ने हिंदी व्याकरण लिखने का प्रयत्न नहीं किया। इसके कई कारण हो सकते हैं - मुसलमानों के द्वारा साम्राज्य स्थापना के बाद खड़ी बोली के विकास के लिए उचित अवसर मिला। इस खड़ी बोली हिंदुस्तानी के रूप में लगभग पूरे देश में नागरी अक्षरों में उर्दू का व्याकरण भी दिया गया है। इसमें हिंदी और उर्दू को निकट लाने का प्रयास किया गया है। शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' द्वारा व्याकरण रचना के बाद लिखे गए व्याकरणों में दो परंपराएं विद्यमान हैं। शिक्षा विभाग में अंग्रेजी परंपरा पर आधारित हिंदी व्याकरण को अधिक प्रसिद्धि मिली क्योंकि इस व्याकरण में हिंदी उर्दू की समान नियमावली होती थी जिससे हिंदी सीखे छात्रों को अंग्रेजी सीखने में सरलता होती। इसलिए पाठशालाओं के पाठ्यक्रम में अंग्रेजी आधारित हिंदी व्याकरण को प्राथमिकता दी गई।

बाबू श्यामसुंदर दास ने हिंदी और उर्दू का व्याकरण का एक प्रारंभिक ग्रंथ 'ऐन एलीमेंटरी ग्रामर ऑफ हिंदी एंड उर्दू' लिखा था। श्यामसुंदर दास ने अपने व्याकरण ग्रंथ में अंग्रेज़ी पद्धति का उपयोग किया। यह व्याकरण छात्रोपयोगी था, इसमें अंग्रेजी भाषा व्याकरण को आदर्श स्वीकार किया गया। व्याकरण रचना के इस दूसरे दौर में छात्रोपयोगी व्याकरणों की रचना प्रमुखता से की गई। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद', भारतेंदु हरिश्चंद्र (प्रथम हिंदी व्याकरण 1884 ई.), आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, अंबिकादत्त व्यास, दामोदर सप्रे, केशवराम भट्ट (इनका व्याकरण लोकप्रिय रहा), सुधाकर द्विवेदी, सूर्यप्रसाद मिश्र, प्रभृति चोटी आदि विद्वानों ने हिंदी व्याकरण का निर्माण किया।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती पत्रिका के संपादक बनने के बाद यह महसूस किया कि हिंदी भाषा में अस्थिरता आ गई है। इस अस्थिरता को दूर करने के प्रयास निबंध लिखकर किए। हिंदी भाषा और व्याकरण में एकरूपता लाने और हिंदी के व्यवस्थित रूप को लेकर चिंता जाहिर की। सरस्वती पत्रिका में 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक से लेख लिखकर हिंदी लेखकों को व्याकरण संबंधित त्रुटियों पर ध्यान देने के लिए अपील की। इन्हीं त्रुटियों के कारण ही हिंदी में एकरूपता का अभाव है। इसी समय 1908 ई. में 'सरस्वती पत्रिका' में ही श्री कामताप्रसाद गुरु का एक लेख छपा 'हिंदी की हीनता', जिसमें उन्होंने हिंदी के व्याकरण का विकास न हो पाने की बात कही। विदेशियों के आने के समय पर खड़ी बोली ऐसी बोली थी जिसके द्वारा व्यापार, धर्म प्रचार और शासन कार्य चल सकता था। इसलिए विदेशियों के लिए हिंदी सीखना अत्यावश्यक था। हिंदी सीखना व्याकरण के माध्यम से ही संभव था। उस समय हिंदी का अच्छा व्याकरण उपलब्ध नहीं था। इसलिए विदेशियों ने ही हिंदी व्याकरण लिखने का काम शुरू किया।

गुरु जी ने 'हिंदी व्याकरण' की रचना में साहित्यिक हिंदी से व्याकरणिक सिद्धांतों का निर्माण किया। गुरु जी का अपनी 'हिंदी व्याकरण' रचना के बारे में कहना है कि-- "इस समय अपने विषय और ढंग की यही एक व्यापक और (संभवतः) मौलिक पुस्तक है।"[10] हिंदी भाषा के सभी शिष्ट रूपों का विवेचन कर हिंदी के नवीन और आधुनिक व्याकरण का स्वरूप निर्धारित किया और अंग्रेजी प्रणाली पर आधारित हिंदी का सुव्यवस्थित स्वरूप निर्धारित किया। इनसे पूर्व विद्वान संस्कृत प्रणाली पर

आधारित हिंदी व्याकरण का आदर्श रूप स्थिर नहीं कर पाये थे परंतु गुरुजी ने सरलता और स्पष्टता के लिए सूत्र और भाष्य दोनों पद्धतियों को अपनाकर अष्टाध्यायी और महाभाष्य की परंपरा का हिंदी में सूत्रपात किया।

कामताप्रसाद गुरु एवं किशोरीदास वाजपेयी हिंदी के प्रसिद्ध वैयाकरण हैं। गुरु जी व्याकरणेतिहास के उत्कर्ष काल (1920 ई.-1947 ई.) के तथा वाजपेयी जी नवचेतना काल (1947 ई. से अब तक) के प्रतिनिधि वैयाकरण हैं। गुरु जी ने आंग्ल पद्धति और वाजपेयी जी ने भारतीय पद्धति के आधार पर हिंदी के व्याकरण ग्रंथों का निर्माण किया है। किशोरीदास वाजपेयी जैसे वैयाकरण का कार्य मानकीकृत प्रारूप का ही शोधन रहा। गुरु जी ने बोलचाल और लेखन में प्रयुक्त हिंदी भाषा को नियमबद्ध कर उसका व्याकरणिक विश्लेषण किया। हिंदी व्याकरण से ही हिंदी जगत ने शुद्ध लिखना और शुद्ध बोलना सीखा। आचार्य गुरु ने भाषा के स्वरूप को वैज्ञानिक शब्दावली में व्यक्त किया, उसकी प्रक्रिया का अध्ययन करके उसमें प्राप्त नियमों का उल्लेख किया, अपवादों पर विचार किया और भाषा के स्वरूप और उसकी प्रक्रिया में मिलने वाली जटिलताओं को यथा साध्य सरल एवं बोधगम्य बनाकर प्रस्तुत किया।

कामताप्रसाद गुरु ने हिंदी व्याकरण संबंधी कई समस्याएं दूर कर दी थी, किन्तु उसके बाद मानकीकरण की प्रक्रिया चलने के कारण हिंदी व्याकरण को आसान बनाने की जरूरत महसूस हुई, जिसका समाधान आगे चलकर किशोरदास वाजपेयी द्वारा किया गया। आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने जिस शुद्धता की पक्षता दिखाई, वैसा भाव इनसे पूर्व में कहीं नहीं था। 1942 ई. में किशोरीदास वाजपेयी का ब्रज भाषा व्याकरण प्रकाशित हुआ और इसी के साथ हिंदी व्याकरण लेखन में नई चेतना का संचार हुआ। 1948 ई. में 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' लिखकर नवीन हिंदी व्याकरण के निर्माण की भूमिका प्रस्तुत कर दी। हम 'किशोरीदास वाजपेयी' के 'हिंदी शब्दानुशासन' को कामताप्रसाद गुरु के हिंदी व्याकरण की अगली सफलता मान सकते हैं। वे लिखते हैं- "हिंदी एक स्वतंत्र भाषा है, वह संस्कृत भाषा नहीं है, वह संस्कृत से अनुप्रमाणित अवश्य है, जैसे अन्य भारतीय भाषाएं, परंतु वह अपने क्षेत्र में सार्वभौम सत्ता रखती है।"[11]

निष्कर्ष : हिंदी व्याकरण का निर्माण कार्य 17वीं शताब्दी के अंतिम चरण में प्रारंभ हुआ। यह एक विडम्बना है कि हिंदी व्याकरण- इतिहास के प्रारम्भ के लगभग दो सौ वर्षों तक विदेशियों द्वारा हिंदी व्याकरण लिखे जाते रहे। इस समय काल में किसी भी भारतीय विद्वान् द्वारा व्याकरण लेखन का प्रयास नहीं किया गया। हिंदी व्याकरण परम्परा में आगे भारतीय विद्वानों ने उल्लेखनीय कार्य किया। प्रारंभ से अब तक व्याकरण निर्माण पद्धति में कोई विशेष बदलाव नहीं हुआ था, परन्तु उद्देश्य, नियम आदि में परिवर्तन होते रहने से व्याकरण के स्वरूप में परिष्कार आता गया। हिंदी व्याकरण रचना के प्रारंभ में पाश्चात्य लोगों ने अपनी काम चलाऊ जानकारी के आधार पर, अपने लोगों को हिंदी भाषा का सामान्य ज्ञान कराने के लिए, अपनी भाषा और अंग्रेजी व्याकरण शैली के आधार पर हिंदी व्याकरण ग्रंथों की रचना की। कामताप्रसाद गुरु के हिंदी व्याकरण के प्रकाशन वर्ष (1920 ई.) से हिंदी व्याकरण में उत्कर्ष का दौर चला। इस दौर में भाषा एवं साहित्य की अभिवृद्धि हुई, उसके साथ ही साथ भाषा में अनेकरूपता एवं अस्थिरता भी बढ़ गई थी। हिंदी भाषा के स्वरूप को स्थिर करने में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने व्याकरण सम्मत भाषा लिखने के लिए 'सरस्वती पत्रिका' के माध्यम से महत्त्वपूर्ण कार्य किए। द्विवेदी जी ने व्याकरण के लिए जो प्रतिमान निर्धारित किए थे, उनकी पूर्ति गुरु जी के 'हिंदी व्याकरण' ने कर दी। यह व्याकरण अपने समय का सर्वथा निर्दोष, पूर्ण एवं

प्रामाणिक माना गया। किशोरीदास वाजपेयी ने हिंदी की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार किया तथा साथ ही हिंदी व्याकरण के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने हिंदी को परिष्कृत किया। इन्होंने 'हिंदी शब्दानुशासन' की रचना कर हिंदी दुनिया में नवीन कीर्तिमान स्थापित किया।

संदर्भ

1. अनंत चौधरी-- हिंदी व्याकरण का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, द्वि. सं. 2013, 155। **2.** Tej K. Bhatia, A Hisotry of the Hindi grammatical tradition P. 204.। **3.** किशोरीदास वाजपेयी-- हिंदी शब्दानुशासन, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, प्रकाशकीय वक्तव्य, पृ.7। **4.** किशोरीदास वाजपेयी-- हिंदी शब्दानुशासन, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, प्रकाशकीय वक्तव्य, पृ.1। **5.** अनंत चौधरी-- हिंदी व्याकरण का इतिहास, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, द्वि. सं. 2013, पृ. 159। **6.** कामताप्रसाद गुरु- हिंदी व्याकरण, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, 2019, भूमिका, पृ.1। **7.** महावीर प्रसाद द्विवेदी- 'भाषा और व्याकरण' निबंध। **8.** कामताप्रसाद गुरु - हिंदी व्याकरण, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, 2019, भूमिका, पृ. 6। **9.** कामताप्रसाद गुरु - हिंदी व्याकरण, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, 2019, भूमिका, पृ. 7। **10.** कामताप्रसाद गुरु - हिंदी व्याकरण, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, 2019, भूमिका, पृ. 2। **11.** किशोरीदास वाजपेयी-- हिंदी शब्दानुशासन, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, पृ. 59।

(शोधार्थी-हिन्दी विभाग
हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद)
मु.-पो.- राजासर बीकान
तह. सरदर शहर, चूरू
राजस्थान - 331403
मो.-8332907096
ई-मेल :- dharmveersarancuk@gmail.com

●

कर्त्तात्रयी

गीता की दृष्टि से तीन प्रकार से कर्ता होते हैं--

(1) **सात्विक कर्त्ता --** जो आशक्ति रहति है। अहंकार रहित है। धैर्य व उत्साह से भरा है। सफलता का विकार नहीं-- यानी गर्व नहीं। असफलता का विकार नहीं- यानी हताशा नहीं। दोनों में निर्विकार।

(2) **राजसकर्त्ता --** जिसमें हर्ष है और शोक है। जो हिंसात्मक है। जो मलिन है। जो फल का लोभी है। जो रागी है। जो लोभी है।

(3) **तामसकर्त्ता --** जो चंचल चित् है। जो असंस्कारी-- उजड्ड है। जो कपटी है। जो आलसी है। जो सदा शोकाकुल रहता है। जो करने योग्य कार्य को टालता-आगे पर सरकता है-- यानी दीर्घसूत्री है। जो असभ्य है। ठग है। दूसरी की वृत्ति को काटनेवाला है-- विघ्नसंतोषी है।

हम यदि भीतर झांककर जांचें अपने को तो प्रायः हमें लगेगा हम तामस तो नहीं-- राजस कर्त्ता हैं। जब जरा 'मैं' को मिटाने की इच्छा करें, धीरज रखें, शुभ कामों में न लगावें, अपना काम करते हुए पराए के काम में भी रुचि लेना शुरू करें तो हमारे भीतर सात्विक कर्त्ता झांकने लगेगा। इस प्रकार सोपानों पर चढ़ते हुए संभवतः त्रिगुणातीत के लक्ष्य को भी पा जाये।

(गीता-18वें अध्याय के 26, 26, 28 श्लोकों के भाव)

तमिलनाडु में हिंदी साहित्य सृजन

डॉ. सुनीता जाजोदिया

महात्मा गाँधी ने आजादी के राष्ट्रीय आंदोलन को जन-जन तक पहुँचाने के लिए हिन्दी भाषा को एक अमोघ शस्त्र बनाया। उन्होंने राष्ट्रीय जागरण व एकता और चेतना के मूल-भाव के संचार में हिंदी को महत्त्वपूर्ण मानते हुए दक्षिण में हिंदी प्रचार का पौधा रोपा। समय के साथ यह पौधा हिंदी लेखकों में पल्लवित हुआ और मौलिक लेखन के इसमें अनेक फूल खिले। हिंदी प्रचार स्वतंत्रता आंदोलन का पर्याय बन गया था। इसलिए दक्षिण में भी हिंदी पढ़ने की राष्ट्रीय धारा बही। राष्ट्रीय आंदोलन की खबरें व गतिविधियाँ जन-जन तक पहुंचाने में उस समय हिंदी पत्र-पत्रिकाएँ ही माध्यम थी अतः इन आंदोलनों से जुड़कर राष्ट्रीय चेतना के संचार के लिए प्रत्येक भारतीय, क्या उत्तर, क्या दक्षिण, हिंदी पत्रिकाओं की और उन्मुख हुआ।

दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा की मातृसंस्था हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने हिंदी प्रचार प्रसार के आंदोलन के अभियान के स्वरूप सन् 1923 जनवरी में हिंदी प्रचारक नामक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया जो बाद में मासिक पत्रिका हो गई। आरंभ में इसमें केवल लेखकों की रचनाएँ प्रकाशित होती थी। स्थानीय हिंदी प्रचारकों तथा हिंदी विद्यालयों के लेख सन 1927 से हिंदी प्रचारक में प्रकाशित होने लगे। इस प्रकार तमिलनाडु की राजधानी मद्रास में हिंदी की साहित्यिक प्रवृत्ति का उदय हुआ। हिंदी के महान कथाकार प्रेमचन्द, विश्वम्भरनाथ कौशिक, जयशंकर प्रसाद, पं. सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री, जैनेन्द्र कुमार आदि की रचनाओं के अनुवादों का तमिल पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन इस साहित्य-रुचि में अभिवृद्धि का ही परिणाम था। इस प्रकार साहित्यिक अध्ययन और अनुवाद के पड़ाव पार करते हुए तमिलनाडु के हिंदी व हिंदीतर भाषी लेखकों ने काव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक, समीक्षा आदि साहित्य विधाओं का सृजन कर साहित्यिक उत्कर्ष को प्राप्त किया। इसमें तब वृद्धि हुई जब रोजी रोटी की तलाश व रोजगार हेतु प्रवास के लिए आजादी के बाद देश के विभिन्न प्रांतेम से लोग तमिलनाडु में आने लगे। तमिलनाडु की सद्भाव और सौहार्द की संस्कृति व धार्मिक प्रवृत्ति से प्रभावित होकर अनेक लोगों ने इस धरती को अपना स्थायी निवास स्थान बनाया। इससे हिंदी ने भी इन लोगों के साथ-साथ तमिलनाडु में अपना स्थायी स्थान बनाया।

चेतनशील प्रबुद्ध मनुष्यों की आवश्यकता है साहित्य। इसी आवश्यकता ने यहाँ हिंदी के साहित्यकारों को जोड़ा भी और संगठित भी किया। आजादी के करीब ढाई दशक पहले

तमिलनाडु में अवतरित होने वाली हिंदी आजादी के बाद मद्रास (चेन्नई) के यशस्वी व अमर साहित्यकारों में फलीभूत हुई। तमिलनाडु के हिंदी के इतिहास में अनेक साहित्यकारों के नाम स्वर्णांकित है। तमिलनाडु की साहित्यिक परंपरा को समृद्ध करते हुए राष्ट्रीय स्तर पर हिंदी को गौरवान्वित करने में इन लेखकों का अभूतपूर्व योगदान है। तमिलनाडु के साहित्यकारों को प्राप्त अनेक राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार व सम्मान यहाँ के हिंदी लेखकों की प्रशस्ति गाथा स्वयं ही कहते हैं। यद्यपि हिंदी को राजनैतिक मुद्दे के रूप में देखने वाली तमिलनाडु की राज्य सरकारों ने हिंदी लेखकों को पुरस्कृत अथवा सम्मानित करने की कभी कोई नीति नहीं अपनाई, चाहे वह लेखक तमिल मातृभाषी ही क्यों न हो।

स्वतन्त्रता संग्राम से राष्ट्रीयता का पर्याय बननेवाली हिंदी अपनी सामासिक विशेषता से अनेक भारतीय भाषाओं को जोड़कर एकता की भावात्मक अंतर्धारा प्रवाहित करती है। वस्तुतः विभिन्न मातृभाषी लेखक हिंदी में साहित्य सृजन से राष्ट्र की सेवा करने का सुख पाते हैं। दक्षिण में हिंदी प्रचार के शुभारंभ के साथ ही उत्तर के हिंदी विद्वान मद्रास (चेन्नई) में प्रवास करने लगे और यहाँ के निवासी भी हो गए। इस प्रकार मद्रास में हिंदी प्रचार सभा की स्थापना के साथ ही हिंदी तमिलनाडु में रच-बस गई है।

तमिल प्रदेश तमिलनाडु ने हिंदी के अनेक लेखक-रत्न राष्ट्र को दिए हैं। इनमें प्रमुख दिवंगत रचनाकार हैं- पन्नालाल त्रिपाठी, रमेश चौधरी 'आरिगपूडि', डॉ. चावली सूर्यनारायण मूर्ति, मोटूरि सत्यनारायण, डॉ. वसंता, लक्ष्मीकांत सरस, डॉ. रविंद्रकुमार जैन, माणकचंद नाहर, डॉ. गुलाबचंद कोटडिया, गुलाब जैन, डॉ. बालाशौरि रेड्डी, डॉ. मधु धवन आदि। वर्तमान समय में सृजनधर्मिता से अपनी पहचान बनाने वाले वरिष्ठ मौलिक लेखकों में प्रमुख हैं- रमेश गुप्त नीरद, डॉ. इन्दरराज वैद 'अधीर', प्रह्लाद श्रीमाली, ईश्वर करुण, डॉ. सुमन अग्रवाल आदि। इस वरिष्ठ पीढ़ी के सान्निध्य व मार्गदर्शन में तमिलनाडु में मौलिक लेखकों की एक और नव-पीढ़ी पनप रही है, जिसके खाते में अभी पुस्तक प्रकाशन तो अल्प अथवा नगण्य ही है, किंतु विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाओं के प्रकाशन व काव्य मंचों से इन्होंने अपनी रचनाओं के पाठ से मौलिक रचनाकार की सफल पहचान अर्जित की है। इनमें चर्चित नाम है- डॉ. रविता भाटिया, डॉ. सुधा त्रिवेदी, डॉ. मंजू रूस्तगी, डॉ. अशोक द्विवेदी, डॉ. नाजीम बेगम, डॉ. सविता धुडकेवार, मिठू मिठास, जवाहरलाल मधुकर, डॉ. सुनीता जाजोदिया आदि। अनुभूति, कवि कुटुंब, कवि हृदय आदि साहित्यिक संस्थाओं के कार्यक्रमों में काव्य-पाठ एक प्रमुख व आकर्षक भाग होते हैं। इस प्रकार काव्य की सरसधारा चेन्नई की धरा पर अखिल रूप से बह रही है।

अनुभूतियों को प्रसंग व घटनाओं के संदर्भ में अभिव्यक्त करने की कला, कथा लेखन में भी चेन्नई के साहित्यकारों ने राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति अर्जित की है। डॉ. मधु धवन, प्रह्लाद श्रीमाली का कथा साहित्य में अपूर्व योगदान रहा है। ईश्वर करुण, डॉ. सुनीता जाजोदिया, डॉ. सुधा त्रिवेदी की कहानियाँ विशेष सराही गई हैं। सामाजिक लेख, समीक्षा, शोध आदि में भी मौलिक चिंतन एवं विचारशीलता से तमिलनाडु के लेखकों ने हिंदी साहित्य को विविध प्रकार से समृद्ध किया है। सितंबर 2015 में भोपाल में आयोजित 10वें विश्व हिंदी सम्मेलन में चेन्नई के साहित्यकार डॉ. एन. सुंदरम एवं डॉ. मधु को 'विश्व हिंदी सम्मान' से सम्मानित किया जाना तमिलनाडु के हिंदी साहित्यकारों की सफलता बयान करता है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, समीक्षा आदि विविध साहित्यिक विधाओं में तमिलनाडु में हिंदी लेखन हुआ है कविता, कहानी, उपन्यास की लोकप्रिय विधाओं के व्यापक फलक में बहुतायत में मौलिक लेखन हुआ है जिसने रचनात्मकता को नव आयाम भी दिए हैं।

युगीन परिवेश व परिस्थितियों के भुक्तभोगी लेखकों के मौलिक भाव व चिंतन दृष्टि से उपजी सृजनशीलता ने तमिलनाडु के हिंदी लेखन को उत्कृष्टता प्रदान की है। तमिलनाडु में हिंदी प्रचार की एक सदी के इतिहास में अनेक भूतपूर्व व वर्तमान सजनकारों ने अमूल्य साहित्यिक योगदान दिया है। इनमें कुछ प्रमुख लेखकों का परिचय इस प्रकार है-

डॉ. इंदरराज बैद

चेन्नई में जन्मे और शिक्षित डॉ. इंदरराज बैद तमिलनाडु ही नहीं देश के प्रसिद्ध लेखक हैं। काव्य, अनुवाद और शोध, समीक्षा आपके लेखन के प्रमुख क्षेत्र हैं। साहित्यानुशीलन समिति, चेन्नई के अध्यक्ष पद का एक दशक समय से अधिक कार्यभार संभालते हुए आपने कई पुस्तकों का संपादन किया व समीक्षा का प्रकाशन किया। हिंदी और तमिल भाषाओं में अनुवाद की अंतर्धारा प्रवाहित कर सेतु का काम कर तमिलनाडु में भाषा-संगम का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

अपनी काव्य पुस्तकों राष्ट्र-मंगल, देश के लिए, अहोभाग्य है मेरा, अंतर्नाद एवं आत्म-निवेदन में हृदय के नाना भावों को शब्दांकित करते हुए काव्य के विविध रसों की सरिता डॉ. बैद ने बहाई है। राष्ट्र प्रेम, ईश्वर भक्ति, प्रेम, मानवता, जीवन-दर्शन आदि अनुभूतियों से कवि अपने मन के भावों को कभी छंदबद्ध और कभी मुक्त छंद व कहीं गीत-गजल की सरसता से पाठकों को सराबोर करते हैं।

प्रकाशित कृतियाँ :-

राष्ट्रमंगल- काव्य (1972),

श्रीमद जवाहराचार्य और राष्ट्र धर्म विवेचन (1978),

प्रणय मंजरी - तिरुक्कुरल काम खण्ड का दोहानुवाद (1979),

देश के लिए - काव्य (1981),

डॉ. सुमन - व्यक्तित्व ओ कृतित्व - सह सम्पादक (1987),

धर्म और हम - विवेचन (1985),

अहोभाग्य है मेरा - काव्य (1986),

टोडा और टार - बाल साहित्य अनुवाद (1992),

तिरुक्कुरल रूपक - प्रसारण साहित्य (2001),

अंतर्नाद - काव्य (2002),

भारतीय साहित्य की झलक - समीक्षा (2003),

तिरुक्कुरल धर्मतत्त्व - विमर्श (2004),

सद्धर्म मंजरी - काव्य (2007),

तिरुवल्लुवर दोहावली - अनुवाद (2008),

सम्पादित पुस्तकें

दिनकर अनुशीलन- सम्पादन- 2009,

आत्म- निवेदन काव्य- 2010,

राष्ट्रीय काव्य विमर्शन- 2015,

रमेश गुप्त नीरद

अनेक सामाजिक शैक्षिक एवं साहित्यिक संस्थाओं के पदाधिकारी एवं सक्रिय कार्यकर्त्ता के रूप में पिछले साढ़े छः दशकों से निरन्तर अपनी सेवाएँ देने वाले श्री रमेश गुप्त नीरद चेन्नई महानगर के हिंदी जगत का एक विशिष्ट गतिशील व्यक्तित्व हैं। सामाजिक नीतियों एवं कुरीतियों की कटु व तीखी आलोचना में लिखे जाने वाले आपके संपादकीय वैचारिक चेतना को झिंझोड़ कर सामाजिक सुधार का काम करते हैं। आलोचना के ये आपके भाव काव्य में कहीं आक्रोश बन कर उभरते हैं तो कहीं नवयुवकों को जगाते हुए, उत्सर्ग की ओर उन्हें प्रेरित करने का आह्वान गीत भी बन जाते हैं।

सातवें दशक के उभरते नवगीतकार खण्ड-2, सन् 1969 में प्रकाशित पुस्तक में हिंदी के संभावित नवगीतकार के रूप में उल्लिखित रमेश गुप्त नीरद ने एक लम्बा काव्य-सृजन का साहित्यिक सफर तय किया है। वस्तुतः राधेश्याम बंधु द्वारा सन् 2016 में प्रकाशित 'नवगीत का लोकधर्मी सौंदर्यबोध' पुस्तक में आपकी काव्य रचनाएँ नवनीत के हस्ताक्षर के रूप में सम्मिलित हैं। राजेंद्र परदेसी द्वारा सम्पादित पुस्तक 'प्रश्नों की प्रतिध्वनि' में आपका साक्षात्कार

सृजनधर्मिता और दक्षिण के हिंदी लेखन का प्रतिनिधित्व कर तमिलनाडु में उन्नत हिंदी साहित्य लेखन का बोध भी देता है। सन् 2015 में डॉ. गुरुचरण सिंह के सम्पादन में प्रकाशित पुस्तक 'समकालीन हिंदी कविता कोश' में आपका परिचय राष्ट्रीय स्तर पर आपकी सृजनात्मक उपलब्धि बयान करता है।

प्रकाशित कृतियाँ :

नित नया अनुबंध (काव्य-संग्रह),
जब याद तुम्हें मेरी आए (काव्य-संग्रह),
कहीं कुछ खो गया है (काव्य-संग्रह),
मेरे गीत तुम्हारे साथी (काव्य-संग्रह),
तमिल की लोक कथाएँ,
खुली खिड़कियाँ,
चिंगारी के अंश।

पुस्तकें जिनमें रचनाएं संगृहीत हैं :-

धूप के शहतीर, सातवें दशक के उभरते नवगीतकार, बुनी हुई रोशनी, पर्वत की खाई में दर्द है, तमिलनाडु की हिंदी कविता, तमिलनाडु की समकालीन कविता।

सम्पादित पुस्तकें :-

धूप के शहतीर (काव्य-संग्रह), कच्ची मिट्टी भाग 1 से 18 (चेन्नै विद्यालय के छात्रों की मौलिक रचनाओं का संग्रह), श्री कुसुमकांत जैन- व्यक्तित्व एवं जीवन संघर्ष परिचय।

सम्पादित पत्रिकाएं :

अंकन, अनुभूति, अग्र सन्देश, अग्रधारा, हमदम, दक्षिण राजस्थानी पोस्ट।

ईश्वर करुण

समसामायिक समाज की विभिन्न अनुभूतियों को गहराई से महसूस करने वाला कवि ईश्वर करुण अपने विचारों और भावनाओं को कविता में डालता है, एक उद्देश्य के साथ। जीवन की समस्याओं एवम संघर्ष के साथ जूझने वाला कवि जीवन के विविध रंगों को भावनाओं के चित्र में प्रस्तुत करता है-- जीवन मूल्य को स्थापित करने हेतु, चुनौतियों का सामना करने वाली संघर्ष पूर्ण प्रवृत्तियों को जिन्दा रखने के लिए। कवि की संघर्षोन्मुखी अजेय प्रवृत्ति निरंतर जीवन उत्कर्ष एवम उत्थान की ओर उर्ध्वगामी होती है।

गीतकार के रूप में ईश्वर करुण चेन्नै के सुधी श्रोताओं के बीच अच्छे मशहूर हैं। आपने कई संगीतकारों के लिए भी गीत लिखे जैसे- वैद्यनाथन (मालगुडी डेज फेम), उपेन्द्र कुमार (कन्नड, तमिल, तेलुगू, हिंदी), इमान (तमिलन फिल्म फेम) सत्यप्रसाद (कस्मिक), राम सिंगार सिंह आदि।

प्रकाशित कृतियाँ :-

तूती ! चुप मत रहना (लघु लेख संग्रह)--1980,
पंक्तियों में सिमट गया मन (काव्य संकलन)-1995,
एक और दृष्टि--2000,
ईश्वर करुण के लोकप्रिय गीत,
चुप नहीं है ईश्वर (काव्य संग्रह)।

"धर्मयुग", "कादम्बिनी", "राष्ट्र धर्म", "युगस्पन्दन", "जनवाणी" (मॉरीशस), "विचार दृष्टि", साउथ चक्र, दक्षिण समाचार, हिंदी प्रचार समाचार, दक्षिण भारत, पूर्ण कुम्भ, राष्ट्र धर्म, रूम की शोभा, निर्भय पथिक, धर्मायण, अभिनव बिहार, मुक्त कथन इत्यादि पत्रिकाओं में रचनाएं प्रकाशित।

सम्पादन : चमकता सितारा (चेन्नै), तमिलनाडु दूत, दक्षिण प्रकाश, माल्यज, कागज़।

प्रह्लाद श्रीमाली

आप एक प्रसिद्ध व्यंग्यकार एवं कथाकार हैं। आपकी कविताएँ हास्य-व्यंग्य के लिए प्रसिद्ध हैं। राजनीति का गिरता हुआ स्तर, आम आदमी की समस्याएँ, संघर्ष व पीड़ा एवं उसका आशावादी जज़्बा, नारी विमर्श आपकी व्यंग्य रचनाओं के माध्यम से मुखर हो उठते हैं। आपकी कथाओं का विविध फलक व्यक्ति, परिवार, समाज एवं देश की समस्याओं के अनछूए पहलुओं को छूते हुए एक

नितांत भिन्न सामाजिक विमर्श रखते हुए समाधान तलाशता है। "सृजनकार्य चाहे जिस स्थान से किया जाय, यदि स्तरीय एवं उत्कृष्ट है तो अवश्य ही छपता है, फिर चाहे वह चेन्नई ही क्यों न हो", तमिलनाडु में हिंदी के प्रति प्रहलाद श्रीमाली की ऐसी मान्यता है और जो उनपर स्वयंसिद्ध भी है। *प्रकाशित पुस्तकें :-* पापा मुस्कुराइए ना! (उपन्यास), अज्ञातवास में सिद्ध (कहानी संग्रह), मुन्ना रो रहा है (कहानी संग्रह), मोती जैसी धुन (व्यंग्य रचनाएँ), आवल-कावल (राजस्थानी)।

डॉ. बालशौरि रेड्डी

सन् 1948 से साहित्यकार स्व. डॉ. रेड्डीजी ने हिंदी एवं तेलुगु, दोनों भाषाओं में रचनाएँ की हैं। मातृभाषा और राष्ट्रभाषा को समान रूप से हृदय से लगाने वाले रेड्डी का भाषा-समन्वयक के तौर पर विशिष्ट स्थान है। गांधीजी के कहने पर हिंदी सीखने वाले बालशौरि रेड्डी ने हिंदी को अपना सर्वस्व बना लिया था। हिंदी भाषा को राष्ट्रीयस्तर पर भावनात्मक और सांस्कृतिक एकता के रूप में स्थापित करने का आपने महत्वपूर्ण कार्य किया है। कमलेश्वर ने उनके प्रति कहा है कि-- "रेड्डी भारतीय संस्कृति और सभ्यता की अटूट परंपरा के उन्नायक हैं।" (जनसत्ता-- न. दिल्ली-- 28 नवंबर)। आपने तेलुगु से हिंदी में 75,000 पृष्ठों से अधिक अनुवाद किया है। देश भर में बच्चों की चहेती मासिक बाल पत्रिका 'चंदामामा' हिंदी संस्करण के सम्पादन ने उन्हें बाल साहित्यकार के रूप में प्रतिष्ठित किया।

हिंदी में प्रकाशित मौलिक रचनाएँ :-

उपन्यास :- 1. शबरी 2. जिंदगी की राह 3. यह बस्ती ये लोग 4. भग्न सीमाएं 5. स्वप्न और सत्य 6. प्रकाश और परछाई 7. लकुमा, 8. धरती मेरी माँ 9. प्रोफेसर 10. वीर केशरी 11. दावानल 12. कालचक्र 13. शंखनाद।

कहानी संग्रह :- बैसाखी, रेड्डीजी की प्रतिनिधि कहानियाँ।

बाल साहित्य 1. तेलुगु की लोक कथाएँ 2. आंध्र के महापुरुष, 3. सत्य की खोज 4. तेनालीराम के लतीफे 5. तेनाली राम के नए लतीफे 6. बुद्धू से बुद्धिमान 7. आमुक्त 8. आंध्र की लोक कथाएँ 9. दक्षिण की लोक कथाएँ।

संस्कृति एवं साहित्य :- 1. पंचामृत 2. तेलुगु साहित्य का इतिहास 3. आंध्र भारती 4. तमिलनाडु से सम्बंधित पुस्तकें 5. तेलुगु वाङ्मय विविध विधाएँ 6. विरेशलिंगम पंतुलु 7. तेलुगु साहित्य के निर्माता।

अनूदित पुस्तकें :- तेलुगु से हिंदी- उपन्यास-9, कहानी संग्रह-5, नाटक एकांकी-5, हिंदी से तेलुगु- उपन्यास-2, अन्य-5।

डॉ. मधु धवन

काव्य, कथा, एकांकी, पाठ्यक्रम, प्रयोजन मूलक हिंदी, आलेख आदि विविध विधाओं में लेखन करने वाली स्व. डॉ. मधु धवन ने दक्षिण में हिंदी का परचम फहराने में अभूतपूर्व योगदान दिया है। वर्तमान यथार्थ को अपनी रचनाओं में उकेरना ही आपकी प्राथमिकता है। इतिहास-पुराणों को वर्तमान के आधार-संदर्भ के रूप में ही आपने अपने लेखन में स्थान दिया है। **प्रकाशित कृतियाँ :-** *काव्य-संग्रह* - 'स्वर्णिम भारत', 'अमृतमयी'। *महाकाव्य* - 'कालचक्र'। *खण्डकाव्य* - 'हुतात्मा', 'भारत ललाट', 'कारगिल की ललकार'। *नाटक* - 'मैंने कब चाहा', 'मूल', 'शहीद भगतसिंह', 'त्रास', 'भारत कहाँ जा रहा है'। *उपन्यास* - 'प्यार भरे दादाजी', 'करवट लेता वक्त', 'जुर्माना', 'आकांक्षा', 'शक्तिपुंज', 'शिखर से ऊँचा', 'उस मोड़ पर', 'महासागर के शंख', 'तूफानी झंझा का दिया', 'प्यार भरा पक्षी-कलिक', 'मैं सृष्टि का आत्मा हूँ', 'साइबर माँ'। *पत्रकारिता* - 'पत्रकारिता : एक परिचय'। *कहानी संग्रह* - 'झरते आँसू', 'इंटरनेट का माउस'। *आलोचना* - 'नरेश मेहता की शबरी', 'मैथिलीशरण गुप्त का नहुष'। *अनुवाद* - (1) सिद्ध औषध- 5 पुस्तकें, तमिल से हिंदी (अंग्रेजी से हिंदी)- 3 (2) डॉ.

सेठ की भविष्यवाणी (अंग्रेजी से हिंदी) (3) तमिल टेलीफिल्म 'अम्मा' (तमिल से हिंदी) (4) अनुवाद सलाहकार-- गंगा मैया (हिंदी से अंग्रेजी) उपन्यास।

स्वतंत्रता आंदोलन में भाषाई जनशक्ति बनकर तमिलनाडु की भूमि से हिंदी ने राष्ट्रीयता की धारा में अहम भूमिका निभाई। आजादी के बाद भी तमिलनाडु के हिंदी लेखकों ने हिंदी साहित्य की धारा को नए आयाम दिए। 'सातवें दशक के उभरते नवगीतकार', 'बुनी हुई रोशनी', 'अंकन' आदि से नवगीत आंदोलन को तमिलनाडु के हिंदी कवियों ने नई दिशा दी। छठे दशक के अंत में पन्नालाल त्रिपाठी, लक्ष्मीकांत सरस, रमेश गुप्त नीरद, रामनिवास चौधरी, शीरीन भारती आदि युवा कवियों ने नवगीत का जो आंदोलन चलाया उस पर देश भर की प्रतिक्रिया, तमिलनाडु की हिंदी साहित्यिक चेतना को उजागर करती है। "आज नवलेखन और उसके लिए गिनाई जा रही समस्याओं पर व्यक्तव्य देने वालों को कमी नहीं, कमी है तो सिर्फ समस्याओं की तह में पैठकर समस्याओं का निदान करने वालों की। आज कविता स्वयं ही एक संक्रांति की स्थिति से गुजर रही है, ऐसी स्थिति में मात्र ऊल-जलूल वक्तव्यों से कविता को पहचानना केवल उनके लिए संभव है जो कविता का अर्थ नहीं जानते, कविता के मर्म को नहीं पहचानते।" सातवें दशक के उभरते नवगीतकार, खण्ड-2 की भूमिका में संपादक लक्ष्मीकांत सरस का यह बेबाक स्पष्टीकरण, पहले खण्ड की आलोचना में उभरी तीखी प्रतिक्रिया का उत्तर है। इससे तमिलनाडु के हिंदी लेखकों की राष्ट्रीय स्तर पर पहचान और काव्य आंदोलनों में उनके योगदान का स्पष्ट पता चलता है।

आज के वर्तमान समय में तमिलनाडु में हिंदी में मौलिक लेखन के विभिन्न साहित्यिक आंदोलन व धाराएँ हैं, यथा- स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, लघु कथा, लघु कविता, व्यंग्य, मनोवैज्ञानिक व आत्म-कथात्मक शैली आदि में उद्‌भासित करता हुआ निरंतर अपना योगदान दर्ज कर रहा है।

आज के दौर में चेन्नई के उभरते साहित्यकारों की पीढ़ी के सामने प्रेरणा का अभाव है। छोटे-छोटे स्तर पर तो फिर भी प्रेरणा मिल जाती है, किंतु बड़ी साहित्यिक रचना के लिए 'मेंटर' अथवा 'साहित्यिक गुरु' उत्तर अथवा दक्षिण के नहीं मिल पाते हैं आज, 'व्यक्तिवाद' के प्रभाव के कारण। प्रकाशकों तक पहुँच पाना भी एक कठिन कार्य चेन्नई के हिंदीतर प्रांत में होने के कारण पहली ही दृष्टि में रचनाओं का अवमूल्यन हो जाता है। अतः आज तमिलनाडु में हिंदी मौलिक लेखन एक दुष्कर कार्य है इसलिए अधिकतर लोग मौलिक शोध लेखन अथवा अनुवाद में अग्रसर हो रहे हैं। तमिलनाडु हिन्दीभाषी लेखकों की स्थिति 'न घर की न घाट की' सी है। न तो हिंदीतर भाषियों को पुरस्कार आदि योजनाओं से प्रोत्साहित किया जाता है और न उनके साहित्यिक योगदान को दर्ज किया जाता है। यहाँ पिछले पाँच-छः दशकों से भी अधिक समय तक हिंदी लेखन में लगे हिंदी मातृभाषियों का योगदान यथोचित रूप में न तो दक्षिण में दर्ज होता है और न ही उत्तर भारत में। फिर भी ये हिंदी सेवी हिंदी की साधना में निरंतर लगे हुए हैं, सामाजिक हित के उदात्त भाव से ओतप्रोत होकर। आवश्यकता है तमिलनाडु के हिंदी मौलिक लेखन के उचित मूल्यांकन की व स्तरीय लेखन को हिंदी की मुख्यधारा में सम्मिलित किए जाने की। इससे तमिलनाडु में हिंदी मौलिक सृजनात्मक लेखन अपेक्षित कोटि को पाते हुए तमिलनाडु में हिंदी के जरिए भाषाई व भावात्मक एकता स्थापित कर सकेगा।

एसोसियट प्रोफेसर एवं
भाषा विभागाध्यक्षा
विमेंस क्रिश्चियन कॉलेज,
शिफ्ट-2, चेन्नई-6
मो.-9841139991

●

देवनागरी ने ही देश को एक सूत्र में बाँधे रखा है

आर.सी.ठाकुर

देवनागरी केवल आधुनिक हिन्दी या प्राचीन संस्कृत की लिपि ही नहीं है। भारत में करीब डेढ़ हजार साल से यह न केवल अस्तित्व में रही है बल्कि इसका प्रयोग भी होता रहा है। देवनागरी का उद्‌भव ब्राह्मी लिपि से माना जाता है। लेकिन सन एक हजार तक देवनागरी का प्रचार दूर-दूर तक हो चुका था। यही वजह थी कि भारत पर शासन करने वाले मुस्लिम शासकों ने भी अपनी मुद्राओं पर देवनागरी में नाम लिखवाना जरूरी है समझा। दरअसल देवनागरी ही नेपाल से लेकर केरल तक को जोड़ने वाली एकमात्र लिपि है। मौर्यकाल (300 ई. पू.) की लिपि ब्राह्मी थी। इस लिपि के लेख सम्पूर्ण भारत की मुद्राओं पर मिलते हैं। विद्वानों का मत है कि देवनागरी सहित कई लिपियों जैसे तमिल, तेलुगु, तिब्बती, सिंहल, थाई आदि कई लिपियों ब्राह्मी से ही उत्पन्न हुई है। देवनागरी और ब्राह्मी लिपियों के कई अक्षर एक जैसे मिलते हैं जैसे अ, क, घ, छ, म, द, ठ, ड, ढ, त आदि। सन् 1000 ई. तक देवनागरी ने भारत ही नहीं वरन नेपाल तथा श्रीलंका की भी सामान्य लिपि के रूप में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। उक्त तथ्य की पुष्टि उस समय की प्रचलित मुद्राओं से होती है। पांड्‌वा वंश के सातवीं से दसवीं शताब्दी तक की मुद्राओं से होती है। पांड्‌वा वंश के सातवीं से दसवीं शताब्दी तक की मुद्राओं पर देवनागरी में पांड्‌वयवला अंकित है। घोल वंश ने दक्षिण भारत में ईस्वी सन् 185 से सन् 1035 तक लगातर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। इस वंश के शासकों से अपने सिक्कों पर तमिल के स्थान पर देवनागरी को महत्व दिया। घोल नरेशों ने उत्तम लोग तथा राजा राजेन्द्र ने 'श्री राजेन्द्र' देवनागरी में ही अपनी मुद्राओं पर उत्कीर्ण किया। दक्षिण के देवगिरी के राजा रामचंद्र यादव ने अपने स्वर्ण मुद्राओं पर बारहवीं शताब्दी में श्री श्रीराम उत्कीर्ण किया।

श्रीलंका में देवानागरी लिपि

श्रीलंका में ई. सन् 1253 से 1296 के मध्य ढली हुई मुद्राओं पर शासक का नाम देवनागरी लिपि में ही लिखा जाता था। जैसे शासक पराक्रम बाहु की मुद्रा पर पूर्व भाग में देवी की आकृति के नीचे नागरी में 'श्री पराक्रम बाहू' लिखा है। केरल के चेर वंश की मुद्राओं (सन् 1000-1100 के मध्य) पर देवनागरी में भी वीर केरलस्य लिखा है। दक्षिण भारत की मुद्राओं

पर कन्नड़ के स्थान पर नागरी लिपि का ही प्रमुख था। दक्षिण के प्रसिद्ध विजयनगर राज्य की स्थापना, पाँच भाइयों ने मिलकर सन् 1336 ई. में की थी। सन् 1565 तक विजयनगर साम्राज्य अपने चरमोत्कर्ष पर रहा। इस साम्राज्य की स्थापना मुस्लिम हमलावरों का मुकाबला करने के लिए की गई थी, जिसका पतन सन् 1565 के युद्ध के बाद हो गया। इस साम्राज्य के शासक विष्णु के उपासक थे, जिसके सिक्कों के पूर्व भाग में विष्णु तथा पृष्ठ भाग में देवनागरी में शासक का नाम उत्कीर्ण है। देवराय, हरिहर, रामराय तथा श्रीकृष्ण राय ने अपनी मुद्राओं पर नाम देवनागरी में लिखवाया था। मैसूर के कोलार क्षेत्र से प्राप्त ताम्र मुद्राओं पर पूर्व भाग में श्री राजा शिव एवं पृष्ठ भाग पर 'छत्रपति' देवनागरी में ही उत्तीर्ण है। कन्नौज के प्रतिहार राजा भोज प्रथम ने अपनी मुद्राओं पर देवनागरी को पूर्ण महत्व दिया तथा अपने शासनकाल सन् 836 में प्रचलित राजत एवं ताम्र मुद्राओं के पूर्व भाग में विष्णु का वराह अवतार का दृष्य एवं पृष्ठ भाग में देवनागरी में श्रीमद् आदि वराह लिखा। राजा भोज ने आदि वराह उपाधि धारण की थी। गढ़वाल त्रिपुरी के कलचुरी शासक गांगेय देव ने (सन् 1015-41) अपनी स्वर्ण मुद्रा पर पूर्व भाग में लक्ष्मी का अंकन एवं पृष्ठ भाग में बड़े अक्षरों में देवनागरी में गांगेदयदेव 'श्रीमद गांगेय देव' तीन पंक्तियों में लिखकर देवनागरी के महत्व को बनाए रखा।

शाकम्बरी के चौहान शासक 'अजय राजा' ने 9वीं शताब्दी में अपनी मुद्राओं पर देवनागरी का पूर्ण स्थान देकर अपना नाम 'अजयदेवा' बड़े अक्षरों में लिखवाया। अजयदेव की पत्नी रानी सोमल देवी के बारे में पृथ्वीराज विजय ग्रंथ की कविताओं में सोमलदेवी को प्रतिदिन एक नए सिक्के का प्रारूप बनाने वाली रानी कहा गया है। सोमलदेवी ने अपनी मुद्राओं के पूर्व भाग पर विभिन्न प्रकार की घुड़सवारों की आकृतियाँ डलवाई हैं परंतु पृष्ठ भाग पर अत्यंत स्पष्ट देवनागरी में सोमलदेवी लिखवाया, जो 9वीं शताब्दी में आम जनता तथा शासकों की सामान्य लिपि थी। चंदेल, परमार, गुजरात के चालुक्य, तोमर एवं परिहार आदि सभी मध्ययुगीन शासकों ने अपनी मुद्राओं पर देवनागरी में शासक का नाम लिखवाया।

गधिया सिक्के : विशेषतः मालवा तथा राजस्थान में पाई जाने वाली गधिया मुद्राओं पर 11वीं 12वीं शताब्दी में विभिन्न प्रकार के देवनागरी में लिखे हुए शब्द पाए जाते हैं, जैसे - ओंकार, श्री त्रिविक्रया, रुद्र, श्री धितराजा देवा, श्री हरि, श्री दामा राधा बाला शब्द लिखे पाए जाते हैं। साथ ही एक या दो शब्दों वाली आशुलिपि का प्रयोग भी इन मुद्राओं पर किया गया है।

मुहम्मद गौरी को भी देवनागरी की शरण में जाना पड़ा। सन् 1203 में जारी मुद्रा पर पृष्ठ भाग में अरबी भाषा में कैकुबाद के साथ नागरी भाषा में 2 लाईन श्री सुलतान तथा मुजिदी अंकित करवाया। क्योंकि भारत की सामान्य लिपि देवनागरी को अपनाकर ही भारत की जनता में गौरी की मुद्राएँ प्रचलित हो सकती थी बाद में मुहम्मद गौरी तथा पृथ्वीराज चौहान ने अपनी संयुक्त मुद्राओं पर देवनागरी में अपने नाम लिखिवाए। दासवंश के मुसलमानों ने अपनी सिक्कों के एक ओर बगदाद के खलीफा की प्रांसा तथा दूसरी ओर बादशाह का नाम देवनागरी में लिखवाया।

अलाउद्दीन के शासनकाल में 1241-46 ई. तक मुद्राओं पर नागरी लिपि में बादाह का नाम छपा होता था। इसके बाद कुछ समय तक नागरी का लोप हो गया। परंतु नासीरुद्दीन मुहम्मद शाह के समय नागरी के ने मुद्राओं पर फिर से स्थान प्राप्त कर लिया। मुहम्मद तुगलक ने अपने सिक्कों पर नागरी संदो लिखवाया कि सुलतान का कहा मानने वाला ही सही में खुदा का हुक्म मानता है।

गयासुद्दीन के सिक्के के पूर्व भाग में अरब में बलवन लिखा है तथा गौलाई के साथ-साथ नागरी में श्री सुलतान गयासुद्दीन लिखा है। रजिया बेगम के

सिक्कों में पूर्व भाग में अरबी में रजिया का नाम उपाधियों सहित अंकित है तथा पृष्ठ भाग में भी हमीरा (अमीरा) नागरी में लिखा है।

मुगलों के प्रवेश के साथ सिक्कों पर से देवनागरी का आधिपत्य समाप्त हो गया। बावर ने अपनी मुद्रा पर नागरी को स्थान नहीं दिया। परंतु शेरशाह सूरी के शासनकाल में प्रसिद्ध रुपया मुद्रा पर बादशाह का नाम नागरी में 'सिरी शेरसाह' त्रुटिपूर्ण नागरी में लिखा मिलता है। बाद में अकबर के सिक्कों पर नागरी लिपि का अंकन मिलता है। अकबर के सिक्कों पर श्रीराम और सीता के चित्र भी मिलते हैं।

जहांगीर ने हिन्दुओं की राशियों वाले चित्रों से युक्त मुद्राओं को चलाया। ईस्ट इंडिया कंपना ने भारत में शासन करने के साथ नागरी लिपि को महत्व दिया। ईस्ट इंडिया कंपनी की अत्यधिक परिष्कृत मुद्रा 'त्रिशूल मुद्रा' पर अरबी में शाहआलम के साथ नागरी में आलेख लिखा जाता था। 'एकपाई सिक्का' अंगरेजों के शासनकाल में भी नगरी में सिक्के की कीमत लिखी जाती थी। देशी रियसतों ने भी अपनी मुद्राओं पर देवनागरी को पर्याप्त महत्व दिया।

●

ब्राह्मी लिपि से नागरी लिपि के विकास के 2300 वर्ष की यात्रा

हिन्दी भाषा में आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान विषयक शब्दों का स्वरूप

सीताराम गुप्ता

देश में हिंदी भाषा के माध्यम से चिकित्सा-विज्ञान की पढ़ाई का प्रारंभ हो चुका है। इस संबंध में पिछले दिनों मध्य प्रदेश में चिकित्सा- विज्ञान की कुछ हिंदी पुस्तकों का लोकार्पण भी किया गया है। हिंदी के विकास के लिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है। चिकित्सा-विज्ञान एक ऐसा विषय है जो पूर्ण रूप से तकनीकी विषय है। इस वजह से इसकी शब्दावली भी आम बोलचाल की शब्दावली से अलग है। क्योंकि चिकित्सा का संबंध आम आदमी से है अतः आम आदमी को भी चिकित्सा-विज्ञान की विशिष्ट अंग्रेजी शब्दावली की थोड़ी बहुत जानकारी तो हो ही जाती है। यही कारण है कि आज हिंदी में अंग्रेज़ी के ऐसे अनेकानेक पारिभाषिक तकनीकी शब्द सम्मिलित हो गए हैं जो चिकित्सा-विज्ञान से संबंधित हैं। हम आम बोलचाल में इन शब्दों का प्रयोग भी करने लगे हैं। लेखन के स्तर पर भी ये शब्द हिंदी में प्रवेश कर चुके हैं।

चिकित्सा-विज्ञान के ऐसे शब्दों पर चर्चा करने के साथ-साथ उनके व्याकरणिक स्वरूप पर भी चर्चा करेंगे क्योंकि अंग्रेजी व हिन्दी दोनों भाषाओं की व्याकरणिक संरचना अलग-अलग प्रकार की है। वर्ष 2020 में एक नया शब्द जो पूरे विश्व की भाषाओं में एक साथ जुड़ गया वो है कोरोना अथवा कोविड। इसी रूप में यह हिंदी में भी सम्मिलित हो गया। कोरोना आकारांत शब्द है और हिंदी में कोरोना शब्द का प्रयोग पुल्लिग के तौर पर किया जा रहा है। यह ठीक है कि इसका बहुवचन रूप नहीं बनता अतः यह एकवचन में ही प्रयोग में लाया जा रहा है लेकिन अन्य आकारांत शब्दों की तरह परसर्ग के साथ सविभक्तिक रूप में भी यह नहीं बदलता। यदि हम लड़का शब्द के साथ परसर्ग का प्रयोग करें तो कुछ इस प्रकार से होगा--लड़के ने खाना खाया अथवा लड़के को पुस्तक दो। यदि कोरोना शब्द के साथ परसर्ग लगाते हैं तो इसका रूप नहीं बदलता जैसे कोरोना ने असंख्य लोगों की जान ले ली या अब तो कोरोना का टीका अथवा कोरोना की वैक्सीन भी बन चुकी है।

हिंदी में कोरोना शब्द की विशिष्ट लैंगिक संरचना पर चर्चा के साथ-साथ अन्य व्याधियों अथवा बीमारियों व उनसे संबंधित शब्दों की लैंगिक संरचना पर भी चर्चा कर लेते हैं जैसे कैंसर, पोलियो, टीबी, न्युमोनिया, हैजा, कफ, खाँसी, नकसीर, नज़ला, ज़ुकाम, बुख़ार,

अपच, अफारा, बदहज़मी, खट्टी डकारें, क़ब्ज़, फोड़े-फुंसी, पथरी, दाद-खाज, दस्त आदि। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है बीमारियों के नाम अंग्रेज़ी व हिंदी दोनों ही भाषाओं में हैं। यह बात भी सही है कि आधुनिक बीमारियों के सही-सही नाम हिंदी में प्रायः हैं ही नहीं। बीमारियों के लिए हृदयाघात, हृद्शूल, पक्षाघात, मस्तिष्काघात, यकृतशोथ, हृद्शोथ, त्वकशोथ, विषूचिका, संग्रहणी, यक्ष्मा, राजयक्ष्मा अथवा क्षयरोग, रक्ताल्पता, अजीर्ण, मंदाग्नि आदि हिंदी के जो मानक शब्द हैं उनका प्रयोग न एलोपैथिक चिकित्सक करते हैं और न सामान्य जन ही। डॉक्टर तो इन शब्दों को लिखते ही नहीं लेकिन बोलचाल में भी नहीं। कहीं-कहीं लेखन में इनका प्रयोग अवश्य मिल जाता है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान अथवा मेडिकल साइंस इतना अधिक विकसित हो चुका है कि हिंदी की किसी भी प्रकार की शब्दावली द्वारा बीमारियों के नामों को सही-सही व्यक्त करना संभव ही नहीं है और यदि संभव है तो वह केवल तकनीकी शब्दावलियों तक ही सीमित होकर रह गया है। केवल उदरशूल अथवा पेटदर्द कहने से किसी बीमारी का न तो निदान संभव है और न उपचार ही। अनेकानेक बीमारियाँ हैं जो पेटदर्द का कारण बनती हैं। विशिष्ट चिकित्सीय शब्दावली केवल अंग्रेज़ी भाषा में है और कुछ आम बीमारियों के नामों को छोड़ दें तो शेष बीमारियों के नामों के लिए अंग्रेज़ी नामों को ही हिंदी में ज्यों का त्यों प्रयोग किया जाता है। वास्तविकता यह भी है कि दर्जनों अथवा इससे भी अधिक बीमारियों के अंग्रेज़ी नामों के लिए हिंदी में एक शब्द से ही काम चलाना पड़ता है और वह भी कई बार पूर्णतः उपयुक्त नहीं होता।

हिंदी में प्रयोग किए जाने वाले बीमारियों के नामों से संबंधित शब्द चाहे जिस भाषा के हों अन्य शब्दों की तरह ही वे भी दोनों वचनों व लिंगों में व्यवहृत होते हैं लेकिन एकवचन में प्रयोग किए जाने वाले शब्दों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक मिलती है। कैंसर, ट्यूबरक्यूलोसिस, प्लेग, पोलियो, हैपेटाइटिस, जॉण्डिस, न्युमोनिया, टायफ़ॉइड, हेमैरॉइड्ज़ (पाइल्ज़), आर्थ्राइटिस, टॉन्सिलाइटिस, स्टोमेटाइटिस, इनफ़्लुएंजा, स्वाइन फ़्लू, बर्ड फ़्लू, फीवर, डेंगू अथवा डेंगू फ़ीवर, वायरल फ़ीवर, रूमैटिक फ़ीवर, मलेरिया, डायरिया आदि अंग्रेज़ी शब्द व इनके दूसरे पर्यायवाची या समानार्थी जैसे हैज़ा, खसरा, बुखार, मियादी बुखार, ज्वर, सन्निपात, पीलिया, हृदयरोग, हृदयाघात, पक्षाघात, लकवा, गठिया, संधिवात, दमा, बवासीर, अर्श, नज़ला, ज़ुकाम, दाद आदि शब्द पुल्लिग व प्रायः एकवचन के रूप में ही प्रयोग किए जाते हैं।

दस्त लगना भी एक बीमारी है। दस्त एकवचन पुल्लिग शब्द है लेकिन बीमारी के तौर पर यह बहुवचन में ही प्रयोग में आता है जैसे उसे दस्त लगे हुए हैं। वैसे बहुवचन में दस्त शब्द का निर्विभक्तिक रूप अपरिवर्तित ही रहता है लेकिन सविभक्तिक रूप बदल जाता है जैसे दस्तों के कारण वो बहुत कमज़ोरी महसूस कर रहा है। इसी प्रकार से दाद भी बहुवचन में अपरिवर्तित रहता है लेकिन एकवचन व बहुवचन दोनों ही रूपों में प्रयोग किया जाता है जैसे उसके गले पर दाद हो गया है अथवा निकल आया अथवा उसकी दोनों जाँघों में दाद हो गए हैं या निकल आए। फोड़ा अकेला भी निकल सकता है और कई-कई एक साथ भी निकल सकते हैं अतः इस शब्द को दोनों वचनों में ही प्रयोग किया जा सकता है।

दर्द पुल्लिग शब्द है व प्रायः एकवचन में ही प्रयोग किया जाता है जैसे उसके पेट में दर्द हो रहा है। जब दर्द एकवचन पुल्लिग है तो पेटदर्द, दाँतदर्द अथवा सिरदर्द भी एकवचन पुल्लिग शब्द ही होंगे। दर्द शब्द कई बार बहुवचन में भी प्रयोग किया जाता है लेकिन उसका रूप नहीं बदलता जैसे उसको दर्द शुरू हो गए तो फौरन अस्पताल लेकर जाना पड़ा। दर्द का सविभक्तिक बहुवचन रूप भी अपरिवर्तित रहता है।

दर्द पुल्लिग शब्द है लेकिन उसका समानार्थी शब्द पीड़ा स्त्रीलिंग है लेकिन पीड़ा प्रायः एकवचन में प्रयोग किया जाता है। चिंता भी किसी रोग से कम नहीं। चिंता का बहुवचन रूप भी बनता है और इसे दोनों वचनों में ही प्रयोग किया जाता है जैसे उसे अपनी बेटी की पढ़ाई की बड़ी चिंता है। उसकी चिंताएँ कम होने का नाम नहीं ले रही हैं। वह चिंताओं के बोझ से परेशान रहने लगा है। दुष्चिंता शब्द भी चिंता की तरह स्त्रीलिंग है व दोनों ही वचनों में प्रयोग किया जाता है।

अब कुछ अन्य बीमारियों के नामों पर विचार करते हैं जो स्त्रीलिंग हैं। डायबिटीज़, टीबी, तपेदिक़, खाँसी, खराश, खाज, खुजली, घमौरी, पथरी, उलटी, फुंसी, संग्रहणी, विषूचिका, माता, चेचक, पेचिश, अजीर्ण, जलन आदि बीमारियों के ऐसे नाम हैं जो स्त्रीलिंग शब्द हैं और कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकांश एकवचन में ही प्रयोग किए जाते हैं जैसे उसके गुर्दे अथवा अग्न्याशय में पथरी हो गई। उसे खाँसी हो गई या टीबी अथवा तपेदिक़ हो गई। बच्चे को माता अथवा चेचक निकल आई। मुझे सीने में जलन हो रही है। कई बार कनफेड़ भी निकल आती है जो बहुत परेशान करती है। रसौली भी प्रायः एकवचन में प्रयोग किया जाने वाला शब्द है लेकिन कभी-कभी दो या अधिक रसौलियाँ भी शरीर के अंदर विकसित हो जाती हैं। लू लगना भी घातक हो सकता है लेकिन लू का प्रयोग एकवचन स्त्रीलिंग में ही उचित रहता है। वैसे लू का बहुवचन लुएँ होता है जैसे लुओं के कारण घर से बाहर निकलना मुश्किल हो गया है।

इस प्रकार से जहाँ कुछ शब्दों के केवल एकवचन रूप ही मिलते हैं वहीं कुछ शब्दों के एकवचन व बहुवचन दोनों रूप मिलते व इस्तेमाल होते हैं। उलटी शब्द भी ऐसा ही है। उसे उलटी हो गई या उसे बारबार उलटियाँ हो रही हैं। ज़्यादा उलटियों की वजह से उसे डीहाइड्रेशन हो गया। इस प्रकार से कुछ स्त्रीलिंग शब्दों को दोनों वचनों में प्रयोग किया जाता है तो कुछ स्त्रीलिंग शब्दों को केवल बहुवचन में ही प्रयोग किया जाता है। गरमी व बरसात में जो घमौरियाँ निकलती हैं वे काफी संख्या में निकलती हैं और फुंसियाँ भी कई-कई एक साथ निकल आती हैं इसलिए इन शब्दों का प्रयोग प्रायः बहुवचन में ही किया जाता है। वैसे कई बार केवल एक ही फुंसी निकलती है और वही बहुत परेशान कर देती है। इसी तरह से कई बार एक उबकाई आकर रह जाती है तो कई बार लगातार उबकाइयाँ आती रहती हैं। उबासियों के साथ भी कुछ ऐसा ही होता है।

एक बात और भी मज़ेदार है। हिंदी में कई ऐसे अंग्रेज़ी व हिंदी के समानार्थी शब्द हैं जो परस्पर विरोधी लिंग के हैं। हिंदी वाले डायबिटीज़ शब्द को प्रायः स्त्रीलिंग एकवचन में प्रयोग करते हैं जबकि इसके लिए प्रयुक्त हिंदी शब्द मधुमेह को पुल्लिग एकवचन में प्रयोग किया जाता है। कॉलरा अथवा हैज़ा भी पुल्लिग हैं लेकिन इनके लिए प्रयुक्त हिंदी शब्द विषूचिका स्त्रीलिंग है। इसी प्रकार से ट्यूबरक्यूलोसिस तो पुल्लिग हैं लेकिन इनके लिए प्रयुक्त संक्षिप्ताक्षर शब्द टीबी स्त्रीलिंग है। उसे पहले भी ट्यूबरक्यूलोसिस हो गया था और अब फिर से टीबी हो गई है। बवासीर शब्द का प्रयोग भी हिंदी में तो एकवचन स्त्रीलिंग के तौर पर किया जाता है लेकिन उसके संस्कृत समानार्थी शब्द अर्श, जो कि संस्कृत में नपुंसकलिंग है, का प्रयोग एकवचन पुल्लिग के रूप में होता है। इस प्रकार के शब्दों की कोई सीमा नहीं है।

किसी भी भाषा में वर्तनी की एकरूपता महत्त्वपूर्ण ही नहीं अनिवार्य भी होती है। अंग्रेज़ी में प्रयोग किए जाने वाले ऐसे तकनीकी शब्दों का कोई लिंग नहीं होता लेकिन हिंदी में उनका सही-सही लिप्यंतरण करके उन्हें किसी न किसी लिंग के अंतर्गत रखना अनिवार्य है अन्यथा उनका प्रयोग ही नहीं किया जा सकेगा। ऐसे शब्दों का हिंदी में पहले से प्रयोग हो ही रहा है और अब हिंदी माध्यम से

चिकित्सा- विज्ञान की पढ़ाई के कारण हिंदी में अंग्रेज़ी के शब्दों की संख्या में तेज़ी से वृद्धि होगी यह भी सुनिश्चित है अतः ऐसे में यह और भी महत्त्वपूर्ण व अनिवार्य हो जाता है कि हम इस प्रकार से हिंदी में आने वाले शब्दों की वर्तनी व उनके व्याकरणिक स्वरूप निश्चित करें अन्यथा ऐसे शब्दों के कई-कई रूप प्रचलित हो जाएँगे जो हिंदी भाषा के विकास एवं मानकीकरण में न केवल बहुत बड़ी बाधा उत्पन्न कर देंगे अपितु इसके वर्तमान स्वरूप को और अधिक विकृत कर देंगे।

ए.डी. 106 सी., पीतमपुरा,
दिल्ली- 110034
मो. नं.- 9555622323
ई-मेल-srgupta54@yahoo.co.in

●

इस अंक में प्रकाशित लेखक श्री सीताराम गुप्ता और अन्य कई लेखक अपने लेखन में एकवचन 'यह' की जगह इसका बहुवचन 'ये' लिखते हैं और 'वह' की जगह 'वो' लिखते हैं, इसी तरह वर्तनी की अशुद्धियाँ और संज्ञाओं का लिंग निर्धारण गलत करते हैं, कइयों का वाक्य विन्यास विचित्र तथा दुर्बोध होता है। लेखों के सम्पादन के समय इन अशुद्धियों को ठीक किया जाता है और मैं फोन पर लेखकों-लेखिकाओं को उनके लेखन की त्रुटियों से अवगत कराता हूँ, पर वे अपनी त्रुटियों पर ध्यान नहीं देते? देना चाहिए। हिन्दी निदेशालय द्वारा निर्धारित कई शब्द-रूप सर्वमान्य नहीं हो पाये हैं, जैसे हिंदी, द्विवेदी इत्यादी। अंग्रेजी में उच्चारण बदलने पर भी शब्दों की वर्तनी नहीं बदलती परंतु हिन्दी में उच्चारण बदलते ही वर्तनी बदल जाने की प्रवृत्ति है जिससे एक शब्द भिन्न रूपों में लिखा जाने लगता है। दुर्भाग्य है कि व्याकरण और शब्दानुशासन को हाशिए में डाल दिया गया है। हमारे अधिकांश हिन्दी शिक्षक-लेखक व्याकरण का एकदम चलताऊ परिचय रखते हैं? केन्द्र सरकार के तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा निर्धारित हिन्दी के प्रशासनिक तकनीकी शब्दों के प्रचलित होने को काफी हद तक सफलता मिली है परन्तु चिकित्सा, अभियांत्रिकी, विज्ञान आदि से संबंधित अंग्रेजी से हिन्दी में रूपांतरित शब्दों के प्रचलन के संबंध में निरूपाय हैं।

अब तो सामान्य बोलचाल में भी अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग खूब हो रहा है जबकि उनके हिन्दी शब्द सहज, सुलभ और पूर्व प्रचलित हैं, यहाँ तक कि अनपढ़ लोग भी हिन्दी शब्दों की जगह अंग्रेजी शब्दों का स्वभाविकता से प्रयोग करते हैं। - सम्पादक

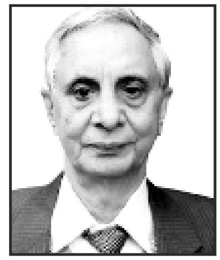

सिंधी भाषा का सौष्ठव

भगवान अटलानी

सिंधु घाटी सभ्यता के ज्वलन्त प्रमाण के रूप में विख्यात 'मुअनि जो दडों' (मुर्दों का टीला) की खोज 1921 में सर जॉन मार्शल के नेतृत्व में राखलदास बनर्जी और उनके सहकर्मियों ने की थी। पाँच किलोमीटर के क्षेत्र में बसे 'मुअनि जो दडों' में पैंतीस हज़ार नागरिक निवास करते थे। आरम्भ में, इस पूर्णतः विकसित सभ्यता को पाँच हज़ार वर्ष पुराना घोषित किया गया। कालांतर में सात और आठ से होते हुए अब इस सभ्यता को दस हजार साल पूर्व स्थापित हुआ स्वीकार किया गया है। रोचक तथ्य है कि 'मुअनि जो दड़ो' में उत्खनित लेखों की लिपि को आज तक भी पढ़ना सम्भव नहीं हो पाया है। लिपि का उद्‌गम भाषा के बाद होता है और इस प्रक्रिया में हज़ारों साल लग जाते हैं।

'मुअनि जो दड़ो' अब पाकिस्तान स्थित सिंध के लाड़काणा शहर से मात्र बीस किलोमीटर दूर है। वर्तमान सन्दर्भों में मान्य विकसित सभ्यता, लिपि की उपलब्धता और बड़ी संख्या में निवासी एक ऐसी भाषा के संकेतक हैं जो पुष्ट भी थी और बहुप्रचलित भी थी। निःसंकोच स्वीकार किया जा सकता है कि वह भाषा सिंधी ही थी।

आबादी और विकास को पानी से जोड़कर देखा जाता है अतः सिंधु नदी के तट पर बसावट हुई। इस बसावट के क्रम में विश्व के सर्वाधिक प्राचीन माने जाने वाले ग्रन्थों के रूप में स्वीकृत चारों वेदों की रचना सिंधु नदी के किनारों पर आश्रम बनाकर रहने वाले ऋषियों ने की। बत्तीस बार सिंधु नदी का वेदों में उल्लेख इसका प्रमाण है। वेदों का रचना काल तीन हजार दो सौ से तीन हजार आठ सौ वर्ष ईसा पूर्व माना जाता है। वेद, वेदांग, संहिताएँ आदि संस्कृत में लिखी गई। संस्कृत का शब्दार्थ है, संस्कार की गई अर्थात् सुधारी हुई व परिमार्जित की गई भाषा। कौनसी थी वह भाषा जिसे परिमार्जित करके संस्कृत भाषा का प्रादुर्भाव हुआ? सिंधु घाटी सभ्यता के प्रतीक रूप में 'मुअनि जो दड़ो' दस हज़ार साल पहले अस्तित्व में था। 'मुअनि जो दड़ो' में एक भाषा और उसकी एक लिपि प्रचलित थी और सिंधु नदी से निकटता के कारण उस भाषा का नामकरण सिंधी ही किया जा सकता है। वेदों की रचना इस सभ्यता स्थापना के लगभग छह से सात हजार वर्षों के बाद हुई और सिंधु नदी के उन तटों पर हुई, जहाँ दीर्घकाल से सिंधी भाषा जनजन की भाषा थी। कहा जा सकता है कि सिंधी भाषा को सुधार कर या परिमार्जित करके संस्कृत भाषा निर्मित हुई। वेद सिंधी भाषा को परिमार्जित करके

अस्तित्व में आई संस्कृत भाषा में लिखे गये।* पांच हजार वर्ष पूर्व रचित ग्रन्थ 'महाभारत' संस्कृत भाषा में है। यों भी 'महाभारत' में सिंध-नरेश जयद्रथ जैसे योद्धाओं का वर्णन एक विकसित और वैभव सम्पन्न क्षेत्र 'सिंध' (और सिंधी भाषा) का ज्वलन्त प्रमाण है।

माना जाता है कि भारत ही नहीं, विश्व की अनेक भाषाओं का उद्गम संस्कृत से हुआ है। सिंधी में सत्तर प्रतिशत संस्कृत या उसके अपभ्रंश शब्दों की उपस्थिति के कारण प्रचलित है कि इस भाषा का स्रोत भी संस्कृत है किन्तु तार्किक आधार पर विवेचन शोध की माँग करता है। डॉ. राम विलास शर्मा, सुनीति कुमार चटर्जी और कैप्टेन जॉर्ज स्टैक ने सिंधी भाषा को संस्कृत से ही नहीं, विश्व की प्राचीनतम भाषा सिद्ध किया है। शोध आलेखों के संग्रह 'भाषाओं की भाषा सिंधी' में रायपुर निवासी प्रेम तनवानी ने सोदाहरण प्रमाणित किया है कि सिंधी भाषा संस्कृत की जननी है।

प्रारम्भ में कई हजारों वर्षों तक सिंधी में अभिव्यक्ति को सुख, दुःख, दर्द, प्रसन्नता, भय और सम्बोधन सूचक स्वरों के अनुसार सम्प्रेषित किया जाता था। इसके लिए ए, हे, अई, उई, आह, ओ, ओह, हे-हे आदि सांकेतिक स्वरावली उपयोग में आती थी। क्योंकि ये स्वर अपने आप छाती, नाभि और नाक से निकलते हैं इसलिये इनके प्रयोग के लिए उद्यम की आवश्यकता नहीं है। सम्पूर्ण सिंधी भाषा में इन स्वरों के आधार पर ही अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं (नाक से निकलने वाला स्वर) और प्रभावशाली शक्तिसम्मत स्वर ह का निर्माण हुआ। यही कारण है कि आज भी सिंधी को भाषा के अर्थ में 'बोली' कहा जाता है।

बाद में पशु-पक्षियों की गूंज, प्रकृति की पहचान, पत्थर, पहाड़, चाँद-तारे, सूर्य आदि और वायु, अग्नि, पानी, पृथ्वी, आकाश से उत्पन्न स्वरों और उत्पादों को देखा सुना और उच्चारित किया गया। अक्षर माला के निर्माण का सिलसिला तत्पश्चात् आरम्भ हुआ। समय के साथ इसमें सुधार हुआ, नीतियाँ व नियम बने, व्याकरण निर्धारित हुआ। यही कारण है कि सांसारिक शब्दावली का प्रत्येक रूप, गुण, गूंज, संकेत सिंधी भाषा में व्याकरण सम्मत है। शरीर के विभिन्न अंगों के सूक्ष्मतम भागों के नाम, पशुओं व पक्षियों की आवाजों के नाम और प्रकृति के विभिन्न उपादानों के नाम जितने विस्तार से सिंधी भाषा के शब्द भण्डार में मिलेंगे, अन्यत्र दुर्लभ है। सिंध में जाति प्रथा नहीं थी। धोबी, नाई, सफाई कर्मचारी आदि हिन्दू सिंधी नहीं थे। जातियों के स्थान पर सिंध में हिन्दू मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित थे। व्यापार करने वाले और दुकानदार 'भाईबंद', सरकारी नौकरी करने वाले 'आमिल' और विदेशों में काम-धंधा करने वाले हिन्दू सिन्धी 'सिंधुवर्की' कहलाते थे। परिवारों को घरों में छोड़कर दुनिया भर में पानी के जहाजों से व्यापार सामग्री ले जाने वाले सिंधुवर्की विभिन्न देशों की भाषाओं के शब्द अपने साथ लेकर आते थे। जिस प्रकार भारतीय संस्कृति को मज़बूत पाचन शक्ति वाली संस्कृति कहा जाता है, उसी प्रकार सिंधी भाषा की शब्दावली ने विभिन्न देशों की भाषाओं के शब्दों को अपनाया। फ़ारसी, अरबी, अफ्रीकी और लैटिन शब्दों का समावेश सिंधी शब्दकोष की समृद्धि का गवाह है। सिंधी भाषा में अनेक शब्द ऐसे हैं जिनका स्वर परिवर्तित होते ही उनका अर्थ बदल जाता है, उनमें से एक शब्द उदाहरण के रूप में प्रस्तुत है--

'वरणु' (लौटना) क्रिया है। इसका नाम रूप 'वरु' है, जिसका अर्थ होता है वापस लौटो।

अ - वर	=	वरदान, दूल्हे।
आ - वरिया	=	लौटे।
इ - वरि	=	चुनना।
ई - वरी	=	लौटी (पुनः भी)।
उ - वरु	=	दूल्हा, वरदान।
ऊ - वरू	=	लौटने वाला।
ए - वरे	=	लौटे।

ऐ - ऐवर = पुकारना।
ओ - वरो = लौटो।
औ - ओ वरणू = बुलाना।
अं - वरां = लौटूं, लौटना।
अः - हे वरणः = बुलाना।

सिंधी विश्व की सुरीली भाषाओं में से एक है। इसके प्रत्येक शब्द के आरम्भ, मध्य व अन्त में प्रयोग में आने वाले हर अक्षर में कोई न कोई स्वर अवश्य होता है। शब्दों के क्रिया पद की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में सिंधी भाषा बहुआयामी है। एक क्रिया पद से सात सौ तक व्युत्पत्तियों के उदाहरण भी सिंधी भाषा में उपलब्ध हैं। देखने के अर्थ में बीस सिंधी क्रियापद उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत हैं --

1. डिसिजणु -- दिखाई देना। 2. डिसणु-- दिखना। 3. डेखारिणु-- दिखाना। 4. पसिजणु-- दिखाई देना। 5. पसिणु-- देखना। 6. पसाइणु-- दिखाना। 7. लखिजणु -- दिखाई देना। 8. लखणु-- देखना। 9. लखाइणु-- दिखाना। 10. बखिजणु-- दिखाई देना। 11. बखणु-- दिखना। 12. बखाइणु-- दिखाना। 13. वाइसणु-- देखना। 14. वाझाइणु-- देखना। 15. झलिकणु-- दिखाई देना। 16. झांकिणु-- देखना। 17. झाती पाइणु-- देखना। 18. निहारिणु-- देखना। 19. तकिणु-- देखना। 20. घूरिणु-- देखना।

उल्लेखनीय है कि इन क्रियापदों को किसी भी रूप में पर्यायवाची शब्द नहीं माना जाता है।

सिंधी भाषा में सामान्यतः प्रत्येक शब्द का अन्त उकारान्त, ओकारान्त आदि से होता है। ये सभी उकारान्त, ओकारान्त आदि से समाप्त होने वाले शब्द एक वचन में होते हैं। उ या ओ आदि हटते ही शब्द सामान्यतः बहुवचन में परिणत हो जाता है। अपवादों सहित यहाँ कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं-- हथु (हाथ) -- एक वचन, हथ (हाथ) -- बहुवचन, कनु (कान) -- एकवचन, कन (कान) -- बहुवचन, भाउ (भाई) -- एकवचन, भाउर (भाई)। बहुवचन, माउ (माता) -- एकवचन, माउर (माताएँ) -- बहुवचन, छोकिरो (लड़का) -- एकवचन, छोकिरा (लड़के) --अपवाद बहुवचन, छोकिरी (लड़की) -- एकवचन, छोकिरियूँ (लड़कियों) -- अपवाद बहुवचन, राति (रात) -- एकवचन, रातियूं (रातें)। अपवाद बहुवचन, डीहूं (दिन) -- एकवचन, डींहं (दिन) -- बहुवचन, उथु (उठ), अपवाद बहुवचन, मुर्दो (राव) एकवचन, उथो (उठो) -- एकवचन, मुर्दा (शव) -- अपवाद बहुवचन, कंधु (कंधे) -- एकवचन, कंधा (कंधा) -- अपवाद बहुवचन, संधु (जोड़) -- एकवचन, संध (जोड़) -- बहुवचन, फंदो (फाँसी)-- एकवचन, फंदा (फाँसी) -- अपवाद बहुवचन। एकवचन में उकारान्त, ओकारान्त आदि रहित शब्द सिंधी भाषा में अपवाद स्वरूप भी बहुत कम मिलते हैं।

'बो' या 'बी' प्रत्यय का सिंधी शब्दों, विशेष रूप से क्रियाओं में प्रयोग भविष्यवाचक होता है। पुल्लिग के लिये 'बो' और स्त्रीलिंग के लिये 'बी' प्रत्यय लगाने से काल परिवर्तित हो जाता है। अर्नेस्ट ट्रम्प ने 1872 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'सिंधी ग्रामर' में लिखा है, "सिंधी' में 'बो' प्रत्यय देखकर मुझे लैटिन की याद आ जाती है, जिसमें इसका प्रयोग पहले और दूसरे सर्वनाम पुरुष की क्रियाओं में किया जाता है।"

'बो' और 'बी' प्रत्यय के भविष्यत् काल के कुछ उदाहरण क्रमशः हैं--

पुल्लिग, स्त्रीलिंग - 1. परिणाइबो, (विवाह करेंगे)। परिणाइबी, (विवाह करेंगे)। 2. बिगाड़ियो, (बिगाड़ा जायेगा)। बिगाड़िबी, (बिगाड़ी जायेगी)। 3. चबिबो, (चबाया जायेगा)। चबिबी, (चबाई जायेगी)। 4. कटिबो, (काटा जायेगा)। कटिबी, (काटी जायेगी)। 5. विञाइयो, (खो जायेगी)। विञाइबी (खो जायेगी)। 6. कबो, (किया जायेगा)। कबी, (की जायेगी)। 7. खाइयो, (खाया जायेगा)। खाइबी, (खाई जायेगी)। 8. पीहबो, (पीया जायेगा)। पीहबी, (पीया जायेगी)। 9. पड़िहिबो, (पढ़ी जायेगी)। पड़िहिबी, (पढ़ी जायेगी)। 10. लिखिबो, (लिखा जायेगा)। लिखिबी, (लिखी जायेगी)।

'बी' प्रत्यय के उपयोग से प्रत्येक 'बो' को पुल्लिग से स्त्रीलिंग में बदला जा सकता हो, यह अनिवार्य नहीं है। 'बो' प्रत्यय के बावजूद अनेक शब्दों और क्रियाओं में अन्य प्रत्यय का उपयोग करके लिंग परिवर्तित किया जाता है।

सिंधी भाषा में चार चूसकर बोले जाने वाले अक्षरों का प्रयोग किया जाता है। सिंधी भाषा में उच्चारण व प्रयोग की दृष्टि से देवनागरी वर्णमाला के ग, ज, ड और ब अक्षरों के नीचे छोटी लकीर (--) डाली जाती है। छोटी लकीर के बिना लिखा अक्षर जिस शब्द में प्रयोग में आता है, समान होते हुए भी उसका अर्थ पूर्णतः बदल जाता है। प्रत्येक चूसकर बोले जाने वाले अक्षर और उसी अक्षर के बिना लकीर वाले शब्द में अर्थ का एक-एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है-- गिलु (गाल)। गिला (निन्दा)। जामु, (श्रेष्ठ)। जामु (बहुत)। डोहु (अपराध)। डोहु (धोखा)। बारु (बच्चा)। बारु (भार)।

यद्यपि देवनागरी वर्णमाला में पाँच नकावे (नाक से बोलने वाले) व्यंजन ङ, ञ, ण, न और म अंकित हैं किन्तु ङ और ञ का उपयोग नहीं किया जाता है। सिंधी भाषा में ङ और ञ व्यंजनों का शब्दों में भरपूर उपयोग किया जाता है। शब्द के मध्य व अन्त में ङ और ञ के उपयोग के प्रचुर उदाहरण सिंधी में मिल जायेंगे। ण, न और म अक्षरों का शब्दों में किया जाने वाला प्रयोग प्रायः सभी भाषाओं में मिलता है मगर ङ और ञ इसके अपवाद होते हैं। मध्य व अन्त में ङ और ञ अक्षरों के सिंधी शब्दों में प्रयोग के दो-दो उदाहरण प्रस्तुत हैं-- अङणु, (आँगन), सिङु (सींग)। अङरु, (अंगारा), छाङो, (छह उंगलीवाल)। वञणु, (जाना), मञि (मानो)। विञिणो, (पंखा-हाथ का), जञ, (बारात)

सिंधी भाषा में ङ और ञ युक्त शब्दों का प्रयोग अपवादस्वरूप नहीं, सामान्यतः किया जाता है।

देवनागरी वर्णमाला से भिन्न चार ऐसे व्यंजन हैं जिनको रगड़कर बोला जाता है और जिनका बहुतायत में उपयोग किया जाता है। ख, ग, ज और फ के नीचे बिन्दी लगाकर इन्हें ख़, ग़, ज़ और फ़ में परिवर्तित किया जाता है। बिना रगड़ और रगड़ के साथ उपयोग में आये समान शब्दों के अर्थ पूरी तरह अलग-अलग हैं। वस्तुतः ये चारों अक्षर अरबी फ़ारसी भाषा मूल के हैं। उर्दू में इनका बहुतायत में उपयोग होता है। उर्दू में तो कहा भी जाता है, "नुक़्ते के हेर-फेर से ख़ुदा खुदा हुआ।" यहाँ ख़ से बना शब्द ईश्वर और ख से निर्मित शब्द खुदाई का प्रतीक है। उदाहरणार्थ ख़ान (मुसलमानों में एक उपनाम) और खाणि खान (खदान), ग़ादि (गाली) और गारि (गुफ़ा), ज़ारी (विलाप) और जारी (प्रचिलत, चालू), फुटी (स्केल, पट्टी) और फुटी (बिनौले सहित कपास)।

हिन्दी सहित अनेक भाषाओं में सर्वनाम का प्रयोग वाक्य के आरम्भ में किया जाता है। इसलिये सामान्यतः उस, उन जैसे सर्वनामों के बाद के, का, में आदि उपयोग में आते हैं। सिंधी में अनेक सर्वनाम शब्द के अन्त में प्रयुक्त होते हैं। हिन्दी की तरह सिंधी में भी उस या उन जैसे सर्वनामों के साथ यह प्रयोग किया जाता है। तुलनात्मक उदाहरण प्रस्तुत हैं क्रमशः

सिन्धी, हिन्दी - माणसि-उसकी माँ, माण्हें - तुम्हारी माँ, खेसि - उसको, खेनि-उन्हें, डीसी -उसको दो, चयोमांसि - उसको कहा, लिखीसि - उसको लिखो, लिखियाईमि - उसने मुझे लिखा, चयाईसि - उसने कहा, बधीसि - उसकी बात सुनो, बधाईसि - उसको बात सुनाओ, डेखारीसि - उसको दिखाओ, डेजारीसि - उसको डराओ, लिकाईसि - उससे छिपाओ, चयाईमि - उसने मुझे कहा, चइबो - उसको कहा जायेगा, लिखिबो - उसको लिखा जायेगा। सिंधी के ऐसे शब्द प्रकारान्तर से संयुक्त शब्दों की तरह प्रयुक्त होते हैं और लेखन-बातचीत में बहुप्रचलित हैं।

संज्ञाओं के लिये सिंधी के शब्द भण्डार में गुण, क्षेत्र व आकार आदि के आधार पर अलग-अलग शब्द काम में आते हैं। क़द और प्रकृति के अनुसार

ऊँट और मछली जैसे जीवों के सैकड़ों नाम सिंधी भाषा में उपलब्ध हैं। जैसे ऊंट के लिये करहो, तोड़ो, चांगो, बोदो आदि तो मछली के लिये पलो, दोथर, डूंभिरौ, गांगटु, झींगो आदि नामों से उनके गुण-दोष के साथ सिंधी भाषी सुपरिचित हैं। रेगिस्तान के कारण ऊँट और सिन्धु नदी के कारण मछली सामान्य सिंधी भाषी के लिये व्यवहारगत महत्त्व रखते थे। लोकमानस में घोड़ों, मिट्टी के पात्रों, खेतों में इस्तेमाल होने वाले उपकरणों, गायों, बैलों, व्यापारिक संसाधनों आदि के अनेक नाम सिंधी भाषा में वहीं से आये हैं।

सिंधी भाषा में अनेक शब्द सामाजिक, धार्मिक व पारिवारिक प्रथाओं के कारण निर्मित हुए हैं। सिंध में और भारत के सिंधी समाज में एक प्रथा सामान्य रूप से सर्वस्वीकृत है। तदनुसार विवाह के लिये कन्या पक्ष, वर पक्ष के नगर में जाकर वैवाहिक रस्में पूरी करता है। वधू पक्ष के जो परिवारजन व निकट सम्बन्धी वरपक्ष के शहर में जाते है, उस जत्थे या समूह को 'मञ' कहा जाता है, क्योंकि यह प्रथा सिंध में बहुप्रचलित थी, इसलिये 'मञ' शब्द सिन्धी भाषा में तो हैं, अन्य भाषाओं में अनुपस्थित है। बारात एकमात्र शब्द है जो अन्यत्र प्रयोग में आता है। सिंधी भाषा में बारात के लिये 'जञ' शब्द का प्रयोग होता है और इसके दायरे में केवल वरपक्ष का समूह आता है। इसी तरह सिंधी समाज में वैवाहिक अथवा प्रसन्नता के अन्य पारिवारिक आयोजनों में सिंधी समाज के मान्य इष्टदेव झूलेलाल की अभ्यर्थना में गीत-संगीत का कार्यक्रम रखा जाता है। इस कार्यक्रम में झूलेलाल की सवारी आती है जिसे 'बहराणा' कहते हैं। अभ्यर्थना में गाये जाने वाले भजनों को 'पंजिड़ा' कहा जाता है। ये शब्द सिंधी के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा में नहीं मिलते हैं।

इसी तरह परिवार के स्तर पर दूरदराज की रिश्तेदारियों के नामकरण भी प्रचुरता से सिंधी भाषा में उपलब्ध हैं। 'मौसेरा भाई' के स्थान पर 'मासातु', 'चचेरा भाई' के स्थान पर 'सौटु' और 'फुफेरा भाई' के स्थान पर 'पुफ़ाट' का प्रयोग इसके कुछ उदाहरण हैं। रिश्तों में कोई भी नामकरण रहित या कामचलाऊ-सांकेतिक संबोधन न होकर यथार्थ व त्रुटिहीन सम्बोधन सिंधी शब्दावली का अंग है।

सिंधी भाषा बहुधा देवनागरी (प्रायः वर्तमान भारत में) और अरबी (प्रायः वर्तमान सिंध, पाकिस्तान में) लिपि में लिखी जाती है। देवनागरी सिंधी की प्राचीन लिपि मानी जाती है जबकि अरबी लिपि को 1853 में अंग्रेजों ने मान्यता प्रदान की थी। रोचक बात यह है कि देवनागरी लिपि में चूसकर बोले जाने वाले चार और रगड़कर बोले जाने वाले चार अक्षरों के अतिरिक्त सभी वर्ण मूल माला के हैं जबकि अरबी लिपि में ज़ के लिये चार तथा त, क, अ के लिये दो-दो अक्षर शामिल हैं। इससे स्पष्ट है कि देवनागरी लिपि के व्यंजन और स्वर सिंधी भाषा की अभिव्यक्ति को अधिक समृद्ध बनाते हैं। सरल, सहज व्याकरण और जीभ से मोड़-तोड़कर किये गये उच्चारणों के परिणाम स्वरूप विश्व के विभिन्न देशों में निवास करने वाले और विभाजन के बाद भारत के अलग-अलग भाषी प्रान्तों में बसने को विवश सिंधी भाषी अन्य भाषाओं को आसानी से सीख जाते हैं। सूफ़ी संस्कार वा वैचारिक धरातल पर सांस्कृतिक सामंजस्य भाषाई तालमेल बैठाने में सिंधी समाज बन्धुओं के लिये सहायक सिद्ध होता है। अपनी नैसर्गिक देन का लाभ सिंधी भाषी आर्थिक स्तर पर भी उठाने में सक्षम हुए हैं, विभाजन के उपरान्त ज़लावतन होने पर भी हैसियत में आये सकारात्मक परिवर्तन इसके प्रमाण हैं।

भारत में सिंधी भाषी विभिन्न प्रान्तों में बिखर गये हैं। क्षेत्रीय भाषाएँ सिंधी भाषा के व्यावहारिक उपयोग को प्रभावित करती हैं। सिंधी भाषियों के पास भारत में प्रान्त नहीं है। इसलिये शिक्षण, पठन-पाठन और भाषाई लोक व्यवहार पीछे खिसक रहा है। पाकिस्तान के सिंध में मुहाजिरों के वर्चस्व और राष्ट्रभाषा उर्दू के चलते भाषाई स्तर पर सिंधी आत्मरक्षा के लिये जूझ

रही है। प्रसन्नता की बात है कि विभिन्न सिंधी संस्थाएँ, राज्य सरकारों की ओर से स्थापित सिंधी अकादमियों, केन्द्रीय साहित्य अकादमी और भारत सरकार की ओर से कार्यरत राष्ट्रीय सिंधी भाषा विकास परिषद् सिंधी भाषा के विकास की दिशा में प्रयत्नशील हैं। सिंधी भाषा के वैशिष्ट्य, सौन्दर्य और सौष्ठव की महत्ता अक्षुण्ण रखने के प्रयास आज नहीं तो कल, निश्चय ही फलीभूत होंगे।

डी-183, मालवीय नगर, जयपुर-302017
मो. : 9828400325
ईमेल-bhagwanatlani@rediffimail.com

लेकिन 'संस्कृत' तो छठी शती ईसा पूर्व अस्तित्व में आई जब वेदों की भाषा और प्राकृत को संस्कारित या परिमार्जित कर, अर्थात् उसका नियमन कर महर्षि पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' की रचना की, इस पर बाद में तीसरी शती ईसा पूर्व में पतंजलि ने भाष्य लिखा। वेदों की भाषा 'वैदिक संस्कृत' नहीं केवल वैदिक भाषा है जिसमें छंद, शब्दों, वाक्य रचना आदि को लेकर संस्कृत की तरह नियम नहीं हैं। पाणिनि कई वैदिक उल्लेखों का नियमन नहीं कर सके अतः उन्हें 'आर्ष प्रयोग' कह कर छोड़ दिया। हाँ, सिन्धु और सरस्वती नदियों के क्षेत्र की लोकभाषा से वैदिक भाषा का निर्माण गवेषणीय है। - सम्पादक

दशहरा इस तरह भी....

आश्विन शुक्ल दशमी को श्रीराम के द्वारा रावण वध करने की स्मृति स्वरूप दशहरे पर रावण के पुतले जलाए जाते हैं परंतु इस दिन कुछ जगहों पर ऐसा नहीं किया जाता है अपितु वहाँ रावण की पूजनीयता है। राजस्थान में श्रीमाली ब्राह्मण समाज द्वारा प्रकाण्ड विद्वान रावण का श्राद्ध किया जाता है। उत्तरप्रदेश में बागपत के पास एक स्थान को रावण का ससुराल समझा जाता है और वहाँ इस दिन शोक मनाया जाता है।

उत्तरप्रदेश के हमीरपुर जिले का ऐसा गांव, जहां होती है रावण की पूजा, नहीं होता रावण दहन। 400 सालों से चली आ रही एक अनोखी परम्परा।

कानपुर शहर में रावण का अनोखा मंदिर, सिर्फ दशहरे पर खुलते हैं दरवाजे। बुराई पर अच्छाई की जीत का पर्व विजयदशमी पूरे देश में भव्यता के साथ मनाया जाता है। इस मौके पर आज पूरे देश में लंकापति रावण के पुतले फूंके जाएंगे। वहीं कानपुर शहर के शिवाला में ऐसा मंदिर है जहां पर रावण की विधि विधान से पूजा अर्चना होती है। इस मंदिर के पटों को साल में केवल विजयदशमी के दिन खोला जाता है। श्रद्धालु पूरे विधि विधान से दशानन की पूजा करते हैं। रावण की प्रतिमा की सरसो के तेल के दीपक से आरती उतारने के साथ उनके चरण में तरोई के पीले फूल चढ़ाते है। इस मंदिर की स्थापना 1868 में हुई थी।

उज्जैन से 45 किलोमीटर दूर ब्राह्मण बरोदा गांव में भी एक मंदिर रावण का है और वहां साल भर पूजन होता है। लगभग 5 फीट की आदम कद प्रतिमा है और गांव के सार्वजनिक स्थल पर है जिसके आते-जाते दर्शन होते रहते हैं।

लखनऊ के पुराने इलाके चौक में रानी कटरा स्थित चार धाम मंदिर है, जिसे 135 वर्ष पहले बनाया गया था, लेकिन यहां आकर्षण का केंद्र रावण दरबार है। रावण की लोग सिर्फ बुराई देखते हैं, पर उसमें अच्छाईयां भी बहुत सी थीं। वह विद्वान पंडित, शक्तिशाली और महादेव का सच्चा भक्त था। यही वजह है कि साल में एक दिन दशहरा को लोग यहां रावण की पूजा करते हैं। मंदिर के पुजारी सियाराम अवस्थी ने बताया कि 135 साल पहले इस चार धाम मंदिर को कुंदन लाल कुंज बिहारी लाल ने बनवाया था। सियाराम बताते हैं कि उनके मंदिर में रावण दरबार बना हुआ है, जो खुलता तो रोज है, लेकिन दशहरा में धूमधाम से रावण की पूजा की जाती है। दरबार में रावण सिंघासन पर बैठा है, उसके मंत्री, बेटे और भाई समेत अन्य दानव भी दरबार में बैठे नजर आते हैं।

समकालीन हिंदी रंगमंच की दशा और दर्शक

तेजस पूनियां

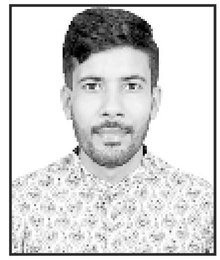

समकालीन हिंदी रंगमंच की दशा और दर्शकों की भूमिका की पड़ताल करने से पूर्व हमें रंगमंच के संक्षिप्त इतिहास को निश्चित तौर पर जेहन में रखना होगा क्योंकि नाटक असीम है, "इसमें काव्य, कला, शिल्प सब अंतर्निहित है उसे असीम बनाना हमारा यानी रंगमंच का काम है बल्कि वहीं लक्ष्य है, सौन्दर्य का अन्वेषण और वही नाट्यालोचन का दायित्व है।"[1] नाट्य का आविर्भाव भारत में यूँ तो प्राचीनकाल यानी ऋग्वेद के समय में ही हो गया था जहाँ यम, यमी, पुरुरवा, उर्वशी के संवादों से उसकी पहचान होती है। यहीं से प्रेरणा ले भरतमुनि ने नाट्यकला को शास्त्रीय रूप प्रदान कर इसे पञ्चम वेद की श्रेणी में ला खड़ा किया। ऋग्वेद से कथा, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय, अथर्ववेद से रस को मिलाकर जिस नाटक का निर्माण हुआ उसके मंचन हेतु विश्वकर्मा ने रंगमंच का निर्माण किया। "भारत वर्ष में रंगमंच की परम्परा चिर प्राचीन है। मनुष्य में अनुकरण की प्रवृत्ति जन्म से ही आरम्भ हो जाती है और इस प्रकार यह अनादि काल से मानव-सृष्टि का चिर सहचर रहा है। परन्तु साहित्य में उसके प्रथम रूप के उपकरण ऋग्वेद के यम-यमी और पुरुरवा-उर्वशी जैसे सूक्तों में सन्निहित संवाद, सामवेद के गीत, यजुर्वेद के अभिनय तथा अथर्ववेद के रस में प्राप्त होते हैं।"[2] संस्कृत साहित्य से शुरू हुई नाटकों और रंगमंच की परम्परा हिंदी में आकर और अधिक आधुनिक तथा विस्तृत हुई। इसके पहले यह पारसी रंगमंच के के रूप में रही और विदेशों तक भी फैली। भारत के संदर्भ में रामायण, महाभारत, हरिवंश पुराण आदि में भी रंगमंच खेले जाने का विधान मिलता है। पहली, दूसरी शती में भरत ने नाट्यशास्त्र में आदिवासियों तथा आर्यों दोनों के नाट्यमंडपों के आकार का भी वर्णन किया है।

यह विदित है कि हिंदी रंगमंच संस्कृत, लोक एवं पारसी रंगमंच का आधार लेकर विकसित हुआ जिसके अंतर्गत अभिनय, नृत्य, संगीत, रस, वेशभूषा, रंगशिल्प, दर्शक इत्यादि शामिल होते हैं। नाटक के इतिहासकारों द्वारा समकालीन रंगमंच का समय भारतेंदु के समय से स्वीकार किया जाता है। यूँ "हिंदी रंगमंच का आरम्भ 1871 ईस्वी में 'अल्फ्रेड नाटक' मण्डली से हुआ जिसने भारतेंदु और राधाकृष्ण दास के नाटकों का मंचन किया। इस मण्डली में राधेश्याम कथावाचक प्रमुख नाटककार थे। रंगमंच खेले जाने वाले स्थान अथवा रंगशाला के भीतर आधार भाग के स्थान को दर्शकों के लिए नियत किया गया, जिसे प्रेक्षागृह कहा जाता है। जबकि बाकी का बचा हुआ भाग रंगमंडप का क्षेत्र कहलाता है और इसका पृष्ठ

भाग नेपथ्य।"[3]

संस्कृत नाट्य साहित्य के बनिस्पत आधुनिक भारतीय नाट्य साहित्य सर्वथा नवीन एवं एक शताब्दी लगभग ही पुराना हुआ है और इसी श्रेणी में आधुनिक रंगमंच भी है। समकालीन रंगमंच की तो अवस्था ही अभी छह दशक को ही बमुश्किल पार कर पाई है। "नाटक शब्द 'नट्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है अभिनय। 'नाटक', साहित्य की वह विधा है जिसका परीक्षण रंगमंच पर होता है और रंगमंच युग विशेष की जनरुचि और तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था के आधार पर निर्मित होता है। नाटक का स्वरूप प्रत्येक युग में परिवर्तित होता रहता है.... किन्तु उसके मूल तत्व बने रहते हैं।"[4] यही वजह है कि आधुनिक तथा समकालीन दौर में भी नाट्य साहित्य तथा रंगमंच के स्वरूप में परिवर्तन होने के पश्चात भी इस विधा के मूल तत्व अनिवार्य रूप से यथावत बने हुए हैं। भारतेंदु के पहले नाटक अंधेर नगरी (1884 ईस्वी में) के लिखे जाने से तथा बनारस में नेशनल थियेटर की स्थापना से जिस आधुनिक रंगमंच का सूत्रपात हुआ था वह नाटक एवं रंगमंच के माध्यम से जनता से सीधा सम्बन्ध स्थापित कर पा रहे थे। नाटककार रंगमंच के माध्यम से समाज की विभिन्न समस्याओं, मनुष्यों के चरित्रों, सभ्यता, संस्कृति के स्वरूप को दर्शकों के सम्मुख उपस्थित कर रहे थे। फिर समृद्ध रंगमंच की परम्परा ने भारतीय रंगमंच को वैश्विक स्तर तक तो पहुँचाया ही साथ ही इसके माध्यम से देश की जनता की विभिन्न समस्याओं को भी खुला मंच प्रदान कर अपने मंचन से राजनीतिक स्तर तक हलचल पैदा की।

करीब एक दशक से भी लम्बे समय से दिल्ली विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य कर रही डॉ. रक्षा गीता नाट्य लेखन एवं रंगमंच के सम्बन्ध में बातचीत के दौरान कहती हैं कि-- भरतमुनि जब नाट्यशास्त्र की रचना करते हैं तो रस के विविध अंगों उपभेदों आदि के साथ-साथ साधारणीकरण के संदर्भ में सहृदय शब्द का प्रयोग करते हैं। यह सहृदय दर्शक ही है यानी दर्शक जिसके लिए रंगमंच बना है। रंगमंच की मूल संवेदनाएं, एस्पेक्ट्स सब दर्शक के लिए ही हैं। दर्शक यानी लोक, लोक यानी जनता और उस जनता की मूल संवेदनाएं तभी संप्रेषित हो पाएंगी जब उसमें संवेदनशीलता का तत्व हो। अन्यथा आप कितना ही बेहतर नाटक बना लीजिए लेकिन उसमें अभिनेताओं का शानदार अभिनय प्रदर्शन न हो और उसका दर्शक सहृदय नहीं होगा तो आप अपनी बात संप्रेषित नहीं कर पाएंगे। तो इसके लिए अनिवार्य है कि हम दर्शकों में सुरुचि उत्पन्न करें। नाटक में हल्के-फुल्के मनोरंजन यानी हास्य का पुट डालें जैसे पहले के नाटकों में नट-नटीन के माध्यम से हुआ करता था, जो सूत्रधार भी हुआ करते थे। वही है जो दर्शकों को रंगमंच तक खींचकर ला सकता है। दूसरा कथावस्तु वर्तमान समाज में प्रासंगिक भी हों। वरना तो जैसे कई साहित्यिक नाटक हैं और अन्य विधागत साहित्यिक कृतियों के नाट्य रूपांतरण हैं, किन्तु उनके दर्शक सीमित हैं जो कि एक खास बौद्धिक वर्ग से जुड़े हुए होते हैं।

"संस्कृत साहित्य में नाट्य-रचना और रंगमंचीय प्रदर्शनों का एक लंबा इतिहास रहा। किंतु मध्ययुग में आकर प्रेक्षागृहों और नाट्य-प्रदर्शनों का क्रमशः ह्रास होता गया। मनु और याज्ञवल्क्य स्मृतियों में नटों के प्रति हेय भावना व्यक्त किए जाने के कारण रंगकर्मियों एवं अभिनेताओं की प्रतिष्ठा घटी। विदेशी आक्रमणों ने भी राजप्रासादों से जुड़ी हुई रंगशालाओं को तहस-नहस कर दिया। जयशंकर प्रसाद लिखते हैं कि मध्यकालीन भारत में जिस आतंक और अस्थिरता का साम्राज्य था, उसने यहां की प्राचीन रंगशालाओं को तोड़-फोड़ दिया। 11वीं-12वीं शताब्दी तक आते-आते नाट्य-लेखन, रंगभूमि के जीवित संदर्भ से कट गया। इतिवृत्तमूलक, संवादात्मक काव्य को ही नाटक कहा जाने लगा।"[5]

समकालीन रंगमंच को लेकर संगीत नाटक अकादमी पुरस्कृत नाटककार प्रताप सहगल एक बातचीत में कहते हैं कि-- समकालीन रंगमंच का आरम्भ लगभग सत्तर के दशक के बाद से अब तक का समय नाटकों के परिप्रेक्ष्य में समकालीन ही

स्वीकार किया जाना चाहिए। क्योंकि इस दौर में नयी तकनीक, नए-नए विषय के साथ, मंजे हुए निर्देशक तथा कलाकार आये और एक नया दर्शक वर्ग भी तैयार हुआ। फिर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के अलावा कई संस्थाएं मसलन संगीत नाटक अकादमी, राज्य स्तरीय संस्थाएं इस क्षेत्र में काम करने लगीं। यह सब समकालीन रंगमंच की देन है। एक अन्य सवाल के जवाब में सहगल कहते हैं कि-- पिछले कुछ सालों में रंगमंच के दर्शक भी बढ़े हैं। इसका कारण रंगमंच का बढ़ना भी है क्योंकि पहले एक क्षेत्र में रंगमंच होता था जहाँ भीड़ नजर आती थी। अब अकेले दिल्ली, मुंबई, पुणे, जयपुर, लखनऊ जैसे शहरों में कई जगह रंगमंच स्थापित होने के कारण भीड़ अलग-अलग जगह बंट जाने के कारण वह वैसी भीड़ नजर नहीं आती, जबकि हकीकत यही है कि रंगमंच के दर्शक पहले के मुक़ाबले बढ़े हैं। इसके साथ ही दर्शकों की समझ और सजगता भी बढ़ी है। आज के समय में बहुत से दर्शक घर में ही टीवी, यूट्यूब आदि पर भी रंगमंच देख लेते हैं हालांकि ऑडिटोरियम में जो लाइव रंगमंच देखने का आनन्द है वह तो उन्हें घर बैठे नहीं मिल सकता। लाइव रंगमंच की जीवंतता और वहाँ रंगमंच के दौरान की ऊष्मा का भी अपना एक अलग रोमांच होता है। एक सच यह भी है कि जितने फिल्म के दर्शक हैं उतने रंगमंच के कभी नहीं रहे और संभवत होंगे भी नहीं।

हर निर्देशक समय-समय पर अपने हिसाब से रंगमंच करते रहे हैं, इनमें हिंदी रंगमंच जो दक्षिण भारत में हो रहे हैं वे भी बहादुरी भरा काम कर रहे हैं। कई युवा निर्देशक सामने आ रहे हैं जो पूरे भारत में देखने को मिलते हैं। आज के दौर के रंगमंच को लेकर यह भी एक समस्या है कि वर्तमान में फटाफट के जमाने में रंगमंच को नुकसान अवश्य हुआ है। क्योंकि किसी भी तरह की कला हो उसमें धीरे-धीरे ही सब चीजें होती हैं, फटाफट जैसा कोई काम कलाओं में नहीं होता है। फिर जन्मजात प्रतिभा बहुत कम होती है इसलिए जन्मजात प्रतिभा का प्रतिशत कम होता है लेकिन उस प्रतिभा को मांजकर मेहनत के रूप में सामने लाया जाता है तो वह स्थायी अवश्य रहती है। फटाफट के रंगमंच में भी समानांतर थियेटर चल रहे हैं जिनमें किसी प्रकार की प्रश्नाकुलता नहीं है, उनमें किसी तरह से बदलने का मुद्दा नहीं है। केवल हंसाना, गुदगुदाना कलाओं का काम नहीं है, भले ही उनका काम मनोरंजन करना हो लेकिन उसे लिखते हुए कुछ प्रश्न होने भी अनिवार्य होते हैं। कलाओं के निकष का मानदंडों पर खरा उतरना भी कलाओं के लिए जरुरी होता है।

रंगमंच से जुड़ा हरेक कलाकार सिनेमा की ओर भी रुख करता है, ऐसे में बातचीत के दौरान प्रताप सहगल कहते हैं-- सिनेमा की ओर रुख करना कोई बुरी बात तो नहीं है। लेकिन हर व्यक्ति करता है यह जरूरी नहीं, कुछ लोग कुछ समय के लिए जाते हैं किन्तु पुनः वे थियेटर की ओर मुड़ते ही हैं। थियेटर से निकले कलाकार का सिनेमा में अभिनय का स्तर भी ऊँचा ही कर रहे हैं। हमारे देश में प्रतिभाओं की कमी नहीं है, यह प्रतिभा थियेटर से भी काफी कुछ निकली ही है। लिहाजा बहुत से कलाकार सिनेमा में जाते रहे हैं।

हिंदी रंगमंच के विकास में भारतेन्दु नाटक मंडली की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जाती है क्योंकि आधुनिक हिंदी नाटक और तत्पश्चात समकालीन नाटकों की नींव भी यहीं से तैयार होती है। इसके साथ ही हिंदी रंगमंच के विकास में बलिया नाट्य समाज तथा प्रयाग के रंगमंचों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यहां के महत्वपूर्ण नाट्य मंच आर्य नाट्य सभा, श्री राम लीला नाटक मंडली, भारत नाट्य समिति, भारतीय कला मंदिर इत्यादि रहे हैं। वर्तमान समय में लखनऊ, दिल्ली, मुंबई, जयपुर, अहमदाबाद, कानपुर इत्यादि बड़े शहरों में भी रंगमंच की कई संस्थाएं स्थापित हैं और वे समकालीन नाटकों के मंचन में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं क्योंकि नाटक मानवीय भावनाओं के करीब होने के कारण मनुष्य के विचारों को भी तेजी से प्रभावित करने तथा उनमें सकारात्मक बदलाव लाने की क्षमता रखता है।

रंगमंच के संदर्भ में पद्मश्री एवं संगीत नाटक अकादमी पुरुस्कृत तथा दिल्ली के नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा के निदेशक रहे राम गोपाल बजाज

बातचीत के दौरान कहते हैं-- रंगमंच हमेशा समकालीन होता है फिर जब तक स्थानीय समाज और संस्थानों, सरकारों इत्यादि को जब तक दायित्वबोध नहीं होगा तब तक रंगमंच भी सुचारु रूप से नहीं चल सकेगा। दर्शकों की कमी को लेकर किये गये सवाल का जवाब देते हुए वे कहते हैं कि-- दर्शक हाल के दौर में तो बढ़े हैं, हालांकि नब्बे का दशक अवश्य नाटकों तथा रंगमंच के लिहाज से ठीक नहीं था दर्शकों के मामले में। उस समय टीवी नया-नया आया था यह भी एक वजह थी। फिर भारत रंग महोत्सव जैसे महोत्सव होना शुरू हुए तब रंगमंच में दर्शक बढ़ने लगे थे। बाल रंगमंच, शिक्षा नीति में जो ढांचा तैयार किया गया है उस लिहाज से भी रंगमंच होने चाहिए ताकि स्कूली बच्चे भी रंगमंच को सीख सकें। दूसरी तरफ आज के समय में अभिनेता ज्यादा सामने आ रहे हैं क्योंकि अभिनय करना सामाजिकों की भी मूल वृत्ति है इसलिए वे टेलीविजन, सिनेमा में भी जा रहे हैं। रंगमंच और सिनेमा एक दूसरे के पूरक हैं, फिर रंगमंच फ़टाफ़ट सीख लेने या कर लेने वाली कला नहीं है यह काम तो जादूगरों और नेताओं का होता है, रंगमंच के लिए सहिष्णु एवं धैर्यशील होकर ही स्वयं के अभिनय में सुधार लाया जा सकता है। प्रताप सहगल की भांति राम गोपाल बजाज का भी यह कहना है कि-- सिनेमा में भी अभिनय ही होता है जो समाज और मानवीय विकास का एक अंग है। अभिनेताओं की जीविका के लिए स्थानीय संस्थाओं, सरकारों द्वारा कोई कारगर कदम भी नहीं उठाये गये आज तक, जिसके चलते भी उन्हें सिनेमा का रुख करना ही पड़ता है।

नाटक की सजीव परम्परा का भारतीय सामाजिक व्यवस्था में प्रमुख स्थान रहा है। रंगमंच युगों से समाज के आदर्शों, मानव अस्तित्व, लोकाचार, भावनाओं, मानवीय संवेदनाओं आदि के प्रति दृढ़ संकल्प को प्रतिबिंबित करता आया है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में त्यौहारों और उत्सवों के दौरान भी पारंपरिक नाट्य रूपों को प्रस्तुत किया जाता रहा है। पारंपरिक रंगमंच के विभिन्न रूप आम आदमी के सामाजिक दृष्टिकोण और धारणाओं को दर्शाते हैं जो क्षेत्रीय, स्थानीय और लोक कला के रूप में प्रकट होती हैं। हमारे देश में रंगमंच प्राचीन काल से तथा विभिन्न प्रकार से किया जाता रहा है इसलिए स्थानीय इलाकों के रंगमंच के नाम भी भिन्न-भिन्न मिलते हैं। "**भांड पाथेर** यह कश्मीर का पारंपरिक नाट्य रूप है जिसमें नृत्य, संगीत और अभिनय का अनूठा संगम मिलता है। इसी तरह **स्वांग** नाट्य रूप मुख्यतः संगीत पर आधारित है जो रोहतक की शैली में हरियाणवी (बांगरू) तथा हाथरस की भाषा ब्रजभाषा में किया जाता रहा है। **नौटंकी** उत्तर प्रदेश का है, **रासलीला** भगवान कृष्ण की कथाओं पर आधारित है, **भवाई** गुजरात का पारंपरिक नाट्य रूप हैं जिसके केंद्र कच्छ और काठियावाड़ हैं। **जात्रा** जो देवताओं के सम्मान में मेले या धार्मिक अनुष्ठानों और समारोहों में संगीतमय नाटक के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। **माच** मध्य प्रदेश का पारंपरिक नाट्य रूप है, **भाओना** नाट्य रूप असम के अंकिया नाट इत्यादि वर्तमान में भी प्रचलित हैं। इनसे जुड़े दर्शकों की सहृदयता अपने परंपारित सामाजिक-धार्मिक परिवेश से संवेदित रहती है।

समकालीन हिंदी रंगमंच की जो दशा वर्तमान दौर में नजर आती है उसका कारण भारतीय नाट्य परम्परा के अत्यंत प्राचीन होने के साथ-साथ आज भी जीवंत खड़े दिखाई देना है। सुदृढ़ भारतीय साहित्य एवं नाट्य लेखन परम्परा के चलते ही समकालीन हिंदी रंगमंच से आज भी दर्शक विमुख नहीं हो पाया है। समकालीन रंगमंच की दशा और दर्शकों की भूमिका पर बातचीत करते हुए जयपुर, राजस्थान के वरिष्ठ नाटक निर्देशक साबिर खान कहते हैं कि-- समकालीन रंगमंच वही है जिसे आप अंग्रेजी में कंटेम्परेरी थियेटर कहते हैं। वर्तमान दौर में लिखे जा रहे नाटक, जिनमें समाज का रूप हर तरह से दिखाई पड़ता है और जो समय के साथ चलता है वही समकालीन कहा जाएगा। रंगमंच में दर्शकों की भूमिका कैसी है, के जवाब में वे कहते हैं- रंगमंच के दर्शक कम तो कभी नहीं थे फिर वर्तमान समय में

दर्शक बढ़े ही हैं, जिसका कारण ओमपुरी, नसीरुदीन शाह, राज बब्बर जैसे अभिनेताओं का रंगमंच से उठकर सिनेमा में जाना हुआ। क्योंकि इन जैसे अभिनेताओं का जब प्रचार हुआ तो उसका फायदा काफी हद तक दर्शकों के रूप में रंगमंच को भी मिला। फिर बिना दर्शकों के कोई रंगमंच सफल नहीं हो सकता लिहाजा दर्शकों की भूमिका तो उसमें अनिवार्य पहलू हैं। सिनेमा के ग्लैमर ने अप्रत्यक्ष रूप से रंगमंच का भी प्रचार किया है। वे कहते हैं कि-- पहले के समय में लोग नाटक करना ठीक नहीं समझते थे जबकि आज जब हम रंगमंच करते हैं तो दर्शकों का यही प्रश्न होता है कि हम उन्हें किसी फिल्म में कब नजर आयेंगे।

इतना सब होते हुए भी, दर्शकों की भूमिकाओं को महत्वपूर्ण मानते हुए जब उन्हीं के द्वारा रंगमंच की गाहे-बगाहे उपेक्षा की जाती है या किन्हीं कारणों से वे रंगमंच देखने से चूक जाते हैं तो यह भी कहीं-न-कहीं उनकी अनभिज्ञता को दर्शाता है। लिहाजा दर्शकों द्वारा की जा रही इस अनभिज्ञता को लेकर एक सवाल के जवाब में साबिर खान कहते हैं- हिंदी रंगमंच में जो अच्छे हिंदी के नाट्य लेखक उभर कर सामने आये थे जैसे डॉ. शंकर शेष, मोहन राकेश, सुरेन्द्र वर्मा, लक्ष्मीकान्त वर्मा, अज्ञेय, दया प्रकाश सिन्हा, गिरिराज किशोर, सुशील कुमार सिंह आदि जैसे लेखक आये भी परन्तु उनमें बहुत से दुर्भाग्य से जल्दी ही इस दुनिया से चले गये। इसलिए भी नाट्य लेखन का अभाव हुआ। आज के समय में नया नाटक लेखन उस स्तर का हो नहीं रहा जो इतना अधिक ख्याति पा सके। समाज के साथ रंगमंच का एक अन्योनाश्रित सम्बन्ध होता है, नाटक में समाज के साथ उसकी प्रतिबद्धता भी झलकनी चाहिए। यह भी एक वजह है कि हमें आज भी पुराने नाटकों की तरफ मुँह ताकना पड़ता है। दर्शकों का सीधा सम्बन्ध अच्छे लिखे गये नाटक से भी होता है, जिसमें उन्हें समाज के साथ प्रतिबद्धता नजर आती हो। इसके अलावा नाट्य निर्देशक तथा कलाकारों को सरकारों के द्वारा आर्थिक सहायता भी पर्याप्त रूप में उपलब्ध करवाई जानी चाहिए। हालांकि कई बार यह सहायता मिलती भी है लेकिन वह भी केवल उन्हें जो सत्ता के गलियारों में चहल कदमी करते रहते हैं।

सिनेमा ने भी रंगमंच को बहुत हद तक प्रभावित किया है, यहाँ से सीख कर निकले हुए कलाकार वैश्विक पटल पर भारतीय सिनेमा का परचम लहराते दिखाई पड़ते हैं। सिनेमा में ग्लैमर की चकाचौंध जितनी है, थियेटर में आजीविका के लिहाज से आज भी उतना ही स्याह अँधेरा पसरा नजर आता है। इसका एक कारण यह भी है कि समकालीन हिंदी रंगमंच में विरोधाभास भी नजर आता है, वह यह कि समकालीन रंगमंच प्रयोगात्मकता के रूप में अत्यधिक विकसित नजर आता है। वहीं सर्जनात्मकता के नजरिये से यह कलात्मक रूप में अधिक प्रतिष्ठित हुआ। यही वजह रही कि समकालीन हिंदी रंगमंच का नाट्य लेखन से अपेक्षित संबन्ध नहीं बन पाया। हालांकि बावजूद इसके कुछ नाटककार वर्तमान में भी अपनी पूरी निष्ठा एवं नाटक लेखन के सभी धर्मों का पालन करते हुए केवल नाटक लिख ही नहीं रहे अपितु उनके लिखे नाटकों को रंचमंच पर भी पर्याप्त सम्मान मिलता दिखाई पड़ता है। कुसुम कुमार, रामेश्वर प्रेम, प्रताप सहगल, अख्तर अली, जयवर्धन, असगर वजाहत, रमेश बक्षी, रमेश राज हँस, मोहन लाल गुप्ता, डॉ. कुमार संजय, अजहर आलम, गिरिराज शरण अग्रवाल, विभा रानी, उमा झुनझुनवाला, काजल सूरी इत्यादि कई नाटककारों के लिखे नाटकों का सफल मंचन भी होता रहा है।

"नाट्यकला सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का वह रूप है जिसमें मुख्यतः किसी संवादमूलक आलेख या कथा को (जिसे हम नाटक कहते हैं) अभिनेताओं द्वारा अन्य रंगशिल्पियों की सहायता से किसी मंच या रंग-स्थल पर दर्शक-समूह के सामने प्रस्तुत किया जाता है।" इसी प्रस्तुतिकरण की दशा समकालीन हिंदी रंगमंच में कैसी है और उसमें दर्शकों की भूमिका किस तरह नजर आती है, सवाल के जवाब

में हरियाणा राज्य में बरसों से रंगमंच सिखा रहे नाट्य निर्देशक मनीष जोशी कहते हैं-- मोहन राकेश के समय में जो नाटक लिखे गये वे समाज, परिवार इत्यादि की समस्याओं पर केन्द्रित थे और उनके बाद या आज के समय में जो नाटक सामने आ रहे हैं वे मंचित तो होते रहते हैं किन्तु उनका प्रकाशन कहीं-न-कहीं कम मात्रा में हो रहा है। नाटकों की नई स्क्रिप्ट जो आज के समय में लिखी जा रही हैं उनमें आशीष पाठक, रसिका अगाशे जैसे लेखकों के नाम शामिल किये जा सकते हैं। इनमें रसिका अगाशे नाट्य लेखन के लिए हर साल एक प्रतियोगिता 'सहिंता मंच' के माध्यम से आयोजित करवाती हैं, जिन्हें रंगमंच पर खेला भी जाता है। काफी लोग स्वयं की संस्था के लिए नाटक लिखकर उनका प्रदर्शन करते हैं। इनमें 'दास्तान-ए-अम्बाला' जैसे नाटक किसी और प्रांत या राज्य में उतने प्रभावशाली नहीं होंगे, इसलिए भी नाटकों का प्रकाशन कम हो रहा है।

मोब लिंचिंग, आज़ादी के अमृत महोत्सव के दौरान कई सारे अनसुने आज़ादी के दीवानों पर नाटक लिखे गये जो आज के समय समकालीन कहे जाने चाहिए। ऐसे में दर्शकों की भूमिका इसमें स्थापित करते हुए मनीष कहते हैं कि-- आज का दर्शक भी काफी सजग और सचेत है, उसकी रंगमंच को लेकर समझ विकसित हुई है। बावजूद इसके दर्शकों के लिए भी कुछ संस्थाएं अवश्य होनी चाहिए। क्योंकि इन्हीं दर्शकों में से कोई कभी आलोचक बन सकता है। तो वह तभी संभव हो पायेगा जब सिनेमा की तरह फिल्म अप्रिसियेशन जैसे कोर्स जो होते हैं, वैसे रंगमंच के लिए रंगमंच अप्रिसियेशन कोर्स शुरू किये जाएँ। इससे उन्हें भी मदद मिलेगी जिन दर्शकों को आज भी रंगमंच देखना नहीं आता है। रंगमंच करना जितना कला का रूप है उतना ही उसे देखना भी कला का ही रूप है।

समकालीन रंगमंच की दशा और दर्शकों की भूमिकाओं को देखते समझते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिंदी रंगमंच अथवा नाट्य लेखन में समयानुसार कई तरह के बदलाव अवश्य देखने को मिले हैं और हर काल में लिखे गये नाटक अथवा किया गया रंगमंच अपने समय के अनुसार समकालीन अवश्य ठहरता है। आवश्यकता है तो केवल इस बात की कि क्या उन नाटकों की प्रासंगिकता तत्कालीन समय के काफी समय बाद भी उसी तरह चिर स्थाई बनी हुई है? अंततः किसी भी साहित्य लेखन का आधार तो उसकी प्रासंगिकता ही होती है। फिर नाट्य लेखन में तो रंगमंच भी जुड़ता है और उसके जुड़ने से यह ज्यादा तेजी से तथा स्थायित्व के साथ दर्शकों के हृदय में स्थान बना सकता है, दर्शकों के रंगमंच के साथ साधारणीकरण की प्रक्रिया पूर्ण होने से ही वह चिर स्थायित्व को प्राप्त होता है।

संदर्भ

1. रस्तोगी गिरीश, नाट्यचिंतन और रंगदर्शन : अंर्संबंध, किताब घर प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2013, पृष्ठ सं. 41। **2.** डॉ. वर्मा धीरेन्द्र, हिन्दी साहित्य कोश-भाग 1, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, पुनर्मुद्रण संस्करण, जून 2021, पृष्ठ सं. 321। **3.** डॉ. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति-2015, पृष्ठ सं. 203। **4.** वही पृष्ठ सं. 202। **5.** वही.। **6.** वही पृष्ठ सं. 203। **7.** जैन नेमिचंन्द्र, रंगदर्शन, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, आठवाँ संस्करण-2016, पृष्ठ सं. 19।

शोधार्थी
मुम्बई विश्वविद्यालय
(स्नातकोत्तर हिन्दी राजस्थान केंद्रीय विश्वविद्यालय)
मो. : 9166373652
ई-मेल- tejaspoonia@gmail.com

गांधी का स्वराज : प्रभाव और विस्तार

डॉ. अभिलाष कुमार गोंड

भारत की सांस्कृतिक परंपरा करुणाप्रधान एवं समतामूलक रही है, समय के साथ बढ़ती तकनीक की चकाचौंध ने जहाँ इसके बाह्य स्वरूप को प्रभावित किया, तो वहीं इसका मूल रूप समस्त चराचर जगत् को आत्मसात करते हुए भारतीय-दृष्टि के स्वत्वबोध के साथ आगे बढ़ता हुआ भारत के लोक जीवन तक को प्रभावित करने लगा। पिछले तीन दशकों में जिस तरह से विश्व प्रभावित हुआ है भारत में भी उसका व्यापक बदलाव दर्ज किया जाने लगा है। जिसके कारण भारत जैसे देश के सम्मुख बहुत सी चुनौतियाँ उठ खड़ी हुई हैं जिसे नजरंदाज नहीं किया जा सकता। वर्तमान में ऐसे बहुतेरे प्रश्न खड़े हुए हैं जिसके निवारण के पश्चात ही देश एकात्मता और एकसूत्रता में बंधकर आगे बढ़ने की योजना बना सकता है। इस कारण यह आवश्यक हो जाता है कि भारतीय ज्ञान परंपरा को साथ लेकर युग के अनुरूप भारत जैसा देश अपनी वर्तमान स्थिति पर विचार करे। जो सभ्यता की विरासत और भविष्य की सभ्यता का अध्ययन किए बगैर संभव ही नहीं हो सकता। आचार्य शुक्ल ने 'भारतीय ज्ञानपरंपरा और विचारक' के माध्यम से आधुनिक भारतीय दर्शन और चिंतन पर विस्तार से चर्चा की है। जिसके साथ ही वर्तमान में गांधी दर्शन की प्रासंगिकता को चिंतन के विविध आयामों के साथ उद्घाटित करते हुए उन्होंने इसे आज के ज्वलंत विमर्शों के साथ जोड़कर देखने का एक नवीन प्रयास किया है।

गांधी की 150 वीं, जयंती और भारत की आजादी के पचहत्तरवें वर्ष की समाप्ति के बावजूद भी बीसवीं शताब्दी के शुरूआती दशक से प्रचलित गांधी दर्शन अनेक कारणों से वैचारिक चिंतन का केंद्र बना हुआ है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि गांधी के वैचारिक चिंतन के साथ खड़े हो रहे विमर्शों को समझते हुए गांधी को संपूर्णता में समझने का प्रयत्न किया जाये। ऐसा न करने पर न तो उनके वैचारिक चिंतन से परिचित हुआ जा सकता है और न ही उसके नैतिक आधार को ही समझा जा सकता है। आज भले ही विकास के क्रम में विश्व नवीन ज्ञान-विज्ञान के साथ आगे बढ़ रहा हो परंतु संवेदना के स्तर पर उसका अपकर्षण सहजता से देखा जा सकता है। आज इक्कीसवीं सदी के वैज्ञानिकों ने परिवर्तन की चकाचौंध को मनुष्य की संवेदना के बाजार से जोड़कर देखने का जो प्रयास किया है वह सही मायने में संवेदनहीनता का ही पर्याय है, जिसे बाज़ारवाद ने प्रमुखता के साथ उद्‌घाटित और आत्मसात

कर लिया है। इसके अन्तर्गत आज के मनुष्य की संवेदनात्मक अभिरुचि का जहां एक तरफ व्यवसायीकरण बढ़ा है, तो वहीं दूसरी तरफ भूमंडलीकरण के प्रभाव से मनुष्य की व्यक्तिगत अभिरुचि भी प्रभावित हुई है जिसके दूरगामी परिणामों के रूप में आज हिंसा, आतंकवाद हमारे बीच अपनी मजबूती के साथ उपस्थित है जिसमें नस्लवाद की भावना प्रधान है, जो निसंदेह आज के मानव समाज के लिए चिंतन का विषय है। प्रश्न यह उठता है कि भूमंडलीकरण के इस दौर में भी परंपरागत सिद्धांत प्रभावी हैं? या उसमें परिवर्तन की आवश्यकता है?

इस पर यदि विचार किया जाये तो हम यह पाते हैं कि भले ही महात्मा बुद्ध का सिद्धांत हो या जैन महात्मा महावीर का, दोनों सिद्धांत अहिंसा की बात करते हुए मानव के सौहार्दपूर्ण संबंधों की वकालत करते हैं। परंतु यदि गांधी के संदर्भ में विचार करें तो उन्होंने जैन संस्कारों को ही आत्मसात करते हुए ही अहिंसा का मार्ग अपनाया जिसे आगे चलकर सभी धर्मों और मतों के परस्पर समरस भावों से जोड़कर देखने का कार्य गांधीवादी सिद्धांत ने किया है। आज के इस वर्तमान समय में गांधी दर्शन के अस्तित्व पर यदि दृष्टि डालने का प्रयास करें तो हम यह पाते हैं कि मानवीय मूल्य धीरे-धीरे फीके पड़ते जा रहे हैं। घृणा, हिंसा, असत्य के बीच आधुनिक मानव बर्बरता पर उतारू हो चुका है जिसके कारण आज गांधी के समाज-दर्शन से संचालित भारत देश की मांग बढ़ रही है। इसमें सर्वोदय, सत्याग्रह, खादी, ग्राम स्वराज, महिला शिक्षा, अस्पृश्यता, स्वालंबन जैसे तमाम प्रश्न शामिल हैं। इसके साथ ही यदि आधुनिकता के आलोक में गांधी दर्शन पर विचार करें तो हम यह पाते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी से औद्योगिकरण की आड़ में जिस तेजी से आधुनिकता का विकास हुआ था उसने ना केवल मनुष्य के सनातनी अस्तित्व को बनाए रखने में बाधा उत्पन्न की, बल्कि मानवीय सभ्यता और उसके तमाम संस्कारों को परिवर्तित रूप में देखने की हिमायती भी की जो आगे चलकर भारत के लिए दुर्भाग्यपूर्ण साबित हुआ। इसके कारण भारतीय सनातनी जीवन मूल्यों की रक्षा का प्रश्न भी इस आधुनिक युग में प्रचुरता के साथ उठाया गया जो भारतीयों के नवीन जागरण का ही सूचक था। अब प्रश्न यह उठता है कि भारत और भारतीयों के संदर्भ में आधुनिकता के ढांचे को किस रूप में देखा जाये? इसका स्पष्ट उत्तर गाँधी ने अपने हिंद स्वराज के माध्यम से देने का प्रयास किया है। प्रो. शुक्ल इसे अपनी पुस्तक 'भारतीय ज्ञान परंपरा और विचारक' के माध्यम से समझाते हुए लिखते हैं कि "महात्मा गांधी हिंसा से त्रस्त विश्व और हिंसामूलक सभ्यता के स्थान पर अहिंसा पर आधारित सभ्यता दृष्टि के प्रस्तावक हैं। एक ऐसे सामाजिक परिदृश्य के अभिकल्पक हैं जिसमें मनुष्य के लिए मनुष्य, साधन न होकर साध्य होगा और क्रियाशील मनुष्य के लिए येन-केन-प्रकारेण साध्य की सिद्धि लक्ष्य न होकर सत्य साधनों से ही सिद्धि प्राप्त होगी, इस विश्वास का दृढ़ीकरण है, इसलिए गांधी की दृष्टि में अहिंसा, हिंसा का अभाव या निषेध नहीं है, अपितु विधायात्मक अवधारणा है, एक सकारात्मक सभ्यता दृष्टि है, जो सबके हित और कल्याण पर निर्भर है, जो कर्तव्यों पर आधारित समाज व्यवस्था का प्रतिपादन करती है।"[1]

कर्तव्यों पर आधारित समाज व्यवस्था गांधी दर्शन का मूल है जिसे अपनी पुस्तक 'हिंद स्वराज' के माध्यम से गांधी ने भी समझाने का प्रयास किया था। उन्होंने यह स्वीकार भी किया था कि जब तक व्यक्ति अपनी अस्मिता को सुरक्षित रखते हुए अपने परिवार और समाज को मजबूत नहीं कर लेता, तब तक भारत जैसे देश का न तो राजनीतिक विकास संभव हो सकता है और ना ही देश सांस्कृतिक रूप से समृद्ध ही हो सकता है। ब्रिटेन के द्वारा थोपी गई आधुनिकता का जब तक भारतीयकरण नहीं होगा, जब तक उसे ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया जायेगा, तब तक

भारत जैसे देश की अधोगति समाप्त नहीं होगी। उन्होंने यह भी समझाने का प्रयास किया कि जब तक भारतीय समाज अपने पुराने दार्शनिक आधार के साथ नवीन जीवन दर्शन का सामंजस्य स्थापित नहीं करेगा तब तक भारतीय समाज विदेशी संस्कृति के आकर्षण से नहीं निकल पायेगा। औपनिवेशिक संस्कृति के छ्द्म आकर्षण के बीच मनुष्य अपनी सभ्यता और संस्कृति से कैसे विमुख हो रहा था, गांधी ने इसे विस्तार से समझाने का प्रयत्न अपनी पुस्तक 'हिंद स्वराज' में करते हैं। "गांधी का हिंद स्वराज आधुनिकता के साथ पहला सत्याग्रह है। वह सत्याग्रह सुधार का नहीं, बल्कि पूरी तरह से नकार का था। हिंद स्वराज आधुनिकता के संपूर्ण खात्मे पर खड़ा होगा, जिसमें मनुष्य मशीन से ऊपर हो जाए। मनुष्य के संबंध निर्णय युक्ति के आधार पर नहीं, आस्था के आधार पर हो। गांधी इसका प्रतिपादन कर रहे थे।"[2]

स्वराज के संबंध में जो गाँधी की दृष्टि थी उसे बहुत बार गोपालकृष्ण गोखले ने भी अपनाया था। गोखले का यह स्पष्ट मत था कि बगैर स्वराज की व्यापक भावना से स्वराज जैसे विस्तृत दर्शन के रहस्य को नहीं समझा जा सकता। इसे मात्र स्वाधीनता संघर्ष तक सीमित करके देखना इसकी व्यापक भावना के साथ न्याय नहीं होगा। गोखले ने यह स्वीकार भी किया था कि इस बात को जान लेना कि गुलाम देश का हित उस देश की राजनीतिक समस्या से कहीं अधिक उस देश के नागरिक समर्पण की भावना से है। क्योंकि देशभक्ति की भावना के साथ स्वराज का अन्योन्याश्रित संबंध सदा से ही स्वीकार किया जाता रहा है यह कोई नई बात नहीं थी। गोखले का कथन उस समय भी प्रभावी था जब औपनिवेशिक शासकों ने भारत को शहर और ग्राम के बीच बांटने के षड़यंत्र से विज्ञानोन्मुख शहर बनाने की बात कही जिसका मुख्य उद्देश्य ही था भारत के शहरों को यांत्रिकता से जोड़कर भारतीयों को अंग्रेजी आचार-विचार के साथ जीवन यापन करने की शिक्षा प्रदान करना। जिससे एक तरफ भारत की शहरी जनता वैज्ञानिकता बोध से अंग्रेजों के प्रति आल्हादित होगी, तो वहीं दूसरी ओर औद्योगीकरण के प्रभाव से भरतीय समाज अपनी जड़ों और सनातनी मूल्यों से कटता चला जायेगा। अंग्रेजों की इसी मंशा के प्रति ही गाँधी ने ग्राम स्वराज की कल्पना की और कहा शहर अपनी देखभाल करने में समर्थ हैं, आवश्यकता है कि ग्राम की उन्नति का यत्न किया जाये और यह तभी संभव हो सकता है जब ग्रामीण अपने पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर संकीर्णता और अन्धविश्वास की सीमित परिधि से निकलकर आदर्श ग्राम निर्माण हेतु प्रयत्न करें। उन्होंने इसके लिए अहिंसा को ढाल बनाकर ही मानवता की रक्षा का स्वप्न देखा। "अहिंसा पर आधारित सभ्यता ही संपूर्ण मानवता की रक्षा का आधार हो सकती है। जो सभ्यता शोषण पर आधारित होगी, जो सभ्यता युद्ध पर आधारित होगी, जो सभ्यता हिंसा पर आधारित होगी, जो सभ्यता दूसरे के खाते के द्वारा अपने विकास की अवधारणा को बढ़ाने पर आधारित होगी वह मनुष्य के लिए, मानवता के लिए, इस धरती के लिए और इस धरती के परे भी कोई जीवन है तो सबके लिए खतरनाक होने वाली है।"[3] आचार्य शुक्ल ने इस कथन में आज के इस दौर में मानव की बढ़ती बर्बरता के साथ, सभ्यता के पतन और जल, जमीन, जंगल पर मंडरा रहे संकट को मानवता की दुर्बलता से जोड़कर देखा है। सभ्यता के विकास के साथ रासायनिक अस्त्र-शस्त्रों का विकास जिस तेजी से आज के मानव ने किया है वह निश्चित रूप से समस्त जीव के लिए चिंता का विषय है। आज नई पीढ़ी की सुरक्षा का प्रश्न हमारे सम्मुख प्रमुखता से उठने लगे हैं। तब यह जानना और भी आवश्यक हो जाता है कि क्या गांधी दर्शन आज के इस बदलते विश्व की समस्याओं के निराकरण हेतु कारगर है? या हमें नवीन तरीके से पुनः इसपर विचार करने की आवश्यकता है?

आज जिस तरह मशीनों की उपयोगिता बढ़ती जा रही है जिसके कारण मनुष्य मशीनों का ग्रास होता चला जा रहा है। तब यह जरूरी हो जाता है कि इस यांत्रिकता से निकलकर मनुष्य की संवेदनात्मक क्षमता को पहचानते हुए आज विश्व को गांधी की आवश्यकता है। गांधी के आदर्शों और नीतियों को स्वीकार करते हुए ही मानव सभ्यता की रक्षा संभव हो सकती है। यदि इसे गाँधी के हिंद स्वराज को केंद्र में रखकर समझने का प्रयास करें तो "पहली बार दुनिया ने युद्ध के क्षेत्र में मशीन के द्वारा निर्मित अनैतिकता का तांडव देखा था। पहली बार कुछ लोगों की उंगलियों के नाच जाने के कारण से लाखों लाख लोग क्षणभर में नष्ट हो सकते हैं, इसके स्वरूप को गांधी ने 1909 में देखा था।"[4] यह कथन जितना गंभीर है उससे कहीं अधिक सार्थक भी। जिसे विस्तार के साथ इनके 'वर्तमान में गांधी की प्रासंगिकता' लेख में देखा जा सकता है जिसमें वैश्विक संत्रास के शिकार होते मनुष्य के बीच प्रकृति को खड़ा किया गया है। आज मनुष्य ने जिस तरह से प्रकृति के साथ असंतुलित संबंध स्थापित किया है, वह एक तरह के प्राकृतिक संसाधनों की विलुप्ति का दूरगामी परिणाम है, जिसका सामना आज भारत ही नहीं बल्कि समूचा विश्व कर रहा है। राज्य सत्ताओं की महत्वाकांक्षा के बीच जिस तरह मनुष्य के समकक्ष अस्तित्व का संकट खड़ा हुआ है वह निसंदेह उनकी लालशा का ही परिणाम है। ब्रिटेन से लौटने के पश्चात गांधी ने अपनी यात्रा में जो लिखा वही विचार हिंद स्वराज के माध्यम से दिखाई देता है जो निश्चित रूप से उनकी व्यापक दृष्टि और स्वराज के साथ भारतीयता को समझने हेतु आवश्यक है। गांधी एक दृष्टि देते हैं, जिसमें उदय का तरीका समानता पर आधारित भले ही न था, परंतु सबको समानता के साथ सर्वोच्च शिखर पर ले जाना ही उनके लिए महत्वपूर्ण था। यहां जब हम समाज-जीवन के साथ राष्ट्र-जीवन के अंतिम पायदान पर खड़े आदमी की बात कर रहे हैं तो ज्ञानात्मकता के आधार पर कर रहे हैं। परंतु इसको औपनिवेशिक ज्ञान विज्ञान से जोड़कर नहीं देखा जाना चाहिए बल्कि स्वराज और भारतीयता के उत्कर्ष के साथ देखना चाहिए। जहां से पुरातन और नवीन सभ्यता आपसी गठजोड़ के साथ समाजोन्मुख हो सके।

चंपारण सत्याग्रह के साथ ही भारत में गांधी का प्रभाव बढ़ने लगा जिससे जन आंदोलन की एक व्यापक शुरुआत हुई जिसमें किसान, मजदूर के साथ सुधारवादी व्यापारियों का भी सहयोग प्राप्त हुआ। इसके कारण गांधी अपने कार्यों के माध्यम से अपने युगीन साहित्य में भी चर्चित हो रहे थे। आधुनिक हिंदी कविता, उपन्यास, कहानी के साथ निबंधों में भी गांधीवादी चिंतन की व्यापक छाप सहजता से देखी जा सकती है। इस दौर में गांधी की ख्याति का सबसे बड़ा कारण उनका सेवा भाव था जो परदुखकातर होकर समाज के लिए समर्पित था। सोहनलाल द्विवेदी अपनी कविता के माध्यम से नवयुवकों को जागृत करते हुए कहते हैं --*"तुम बोल उठे, युग बोल उठा, तुम मौन बने, युग मौन बना। कुछ कर्म तुम्हारे संचित कर, युगकर्म जगा, युगधर्म तना। युग-परिवर्तक, युग-संस्थापक, युग-संचालक, हे युगाधार! युग-निर्माता, युग-मूर्ति! तुम्हें, युग-युग तक युग का नमस्कार!"*[5] गांधी के भारत आगमन के पश्चात देश में जो गांधीवाद की व्यापक लहर दौड़ी उसने धीरे-धीरे जनता को एकजुट करने का प्रयास किया। धीरे-धीर गांधी का प्रभाव समूचे भारतवर्ष पर पड़ने लगा। फिर चाहे असहयोग आंदोलन हो या सविनय अवज्ञा आंदोलन, समूचे भारतीयों को प्रभावित कर रहे थे। अंग्रेजी नीतियों के खिलाफ जो असहयोग की भावना 1920 ई. में जागृत हुई वह अकारण नहीं हुई बल्कि उसकी पूर्वपीठिका प्रथम विश्व युद्ध से ही तैयार थी। जिसे हिंदी के कवियों ने पहचानते हुए भारतीयों को अंग्रेजी औपनिवेशिक साम्राज्यवादी शासन व्यवस्था के परिणामों से अवगत भी कराया। "पर-पीड़न में

विमुख और सम्मुख पर-हित साधन में। पर-निंदा में मूक-बधिर रहना नित निर्भय मन में। आत्मा का अपमान न करना सत्य मार्ग पर चलना। है वह सत्य तुम्हें ना उचित है असत्य से कभी भी।"[6]

परिवर्तन के उस दौर में भारतीय ज्ञान परंपरा की जो मुक्कमल शुरुआत उसके वैचारिक चिंतन के माध्यम से परिलक्षित हो रही थी वह निश्चित रूप से साहित्यकार के ज्ञानात्मक संवेदन को समृद्ध कर रही थी। इसके साथ ही यदि हिंद स्वराज के साथ उस दौर की प्रमुख पुस्तकों को देखें तो शताब्दी गुजर जाने के उपरांत भी ये पुस्तकें आज भी भारत और भारतीय परंपरा के गूढ़ रहस्यों को उसकी सैद्धांतिक परंपरा से जोड़कर समझाने का प्रयास करती हैं। यही कारण है कि भारत और उसकी सनातनी भारतीय परंपरा को भारतीय संस्कृति को समझे बगैर नहीं समझा जा सकता। भारतीय विचारों का मानना है कि भारतीयता के स्वरूप को यदि सही अर्थों में समझने का प्रयास किया जाए तो हमें हिंद स्वराज से होकर गुजरना होगा। सत्याग्रह की आरंभिक सफलताओं के साथ धीरे-धीरे गांधी की ख्याति देश-विदेश तक फैलने लगी परंतु परिस्थितियां उतनी सरल न थी कि गांधी के विचारों को सभी सहजता से स्वीकार कर ही लें। अंग्रेज भी गांधी के साम्राज्यवाद विरोधी विचारों से परिचित हो चुके थे बावजूद इसके भी गांधी अंग्रेजी साम्राज्यवादी नीतियों के खिलाफ खड़े हो रहे थे। इस क्रम में बहुत से ऐसे परिवर्तन हुए जिन परिवर्तनों का प्रभाव भारतीय जनमानस पर पड़ रहा था। फिर चाहे साइमन कमीशन हो या कांग्रेस का लाहौर अधिवेशन सभी स्थितियों को भारतीयों ने अपने अनुकूल गढ़ने का काम बखूबी किया।

1930 ई. तक आते-आते देश में राष्ट्रवादी गतिविधियाँ इतनी सक्रिय हो गई कि स्त्रियों ने भी पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर आंदोलन में भाग लिया। गांधी के आदर्शों और अहिंसा को अपनाते हुए जेल भी गयी। आजादी के दौर में जो नारीवादी आंदोलन हुए उन सभी आदोलनों के केंद्र में सामान्य स्त्रियां ही थी जिससे धीरे-धीरे यह देखा जाने लगा कि नारीवादी आंदोलन पर भारतीय उच्चवर्गीय स्त्रियों का प्रभाव समाप्त होने लगा। गांधी के नशा मुक्ति आंदोलन के साथ बहुत सी स्त्रियों ने अंग्रेजी साम्राज्यवादी शासन व्यवस्था के खिलाफ मोर्चा खोलते हुए अंग्रेजी नीतियों के प्रति अपना विरोध प्रदर्शित किया। हिंदी के साहित्यकारों ने भी औपनिवेशिक शासन व्यवस्था की निरंकुश नीतियों को अपने साहित्य के माध्यम से मूर्त करते हुए साम्राज्यवाद के साथ पूंजीवादी चेहरे को प्रमुखता के साथ चित्रित किया। प्रेमचंद की रंगभूमि इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण है जिसमें औपनिवेशिक शासक वर्ग के निरंकुश चेहरों के बीच 'काले अंग्रेजों' के अमानवीय व्यवहारों को भी बड़ी ही मार्मिकता के साथ प्रेमचंद ने चित्रित किया था। भारत में पूंजीपतियों का प्रसार जिस तेजी के साथ 20वीं शताब्दी के दूसरे दौर में हुआ वह निश्चित रूप से चिंता का विषय था जिसके प्रति सचेत होकर साहित्यकारों ने अपने लेखन में इसे शामिल किया। रंगभूमि उपन्यास में सूरदास का यह कथन साम्राज्यवादी क्रूर चेहरे को बड़ी ही व्यापकता के साथ उद्घाटित करता है, "इसी से तो मैंने किसी से कुछ कहा ही नहीं। भला सोचो, कितना अंधेर है कि हम, जो सत्तर पीढ़ियों से यहाँ आबाद हैं, निकाल दिए जाएँ और दूसरे यहाँ आकर बस जाएँ। यह हमारा घर है, किसी के कहने से नहीं छोड़ सकते। जबरदस्ती जो चाहे, निकाल दे, न्याय से नहीं निकाल सकता। तुम्हारे हाथ में बल है, तुम हमें मार सकते हो। हमारे हाथ में बल होता तो हम तुम्हें मारते। यह तो कोई इंसाफ नहीं है। सरकार के हाथ में मारने का बल है, हमारे हाथ में और कोई बल नहीं है तो मर जाने का बल तो है!"[7] सूरदास का यह कथन औपनिवेशिक साम्राज्यवादी शासन व्यवस्था के खिलाफ अहिंसात्मक मूल्य की स्थापना करता प्रतीत होता है।

यही वह दौर था जब भारतीयों की संगठित एकता ने अंग्रेजी हिंसात्मक गतिविधियों के खिलाफ अहिंसात्मक आंदोलन को सक्रिय बनाते हुए भारतीयों को उनके कर्तव्यों के प्रति प्रेरित किया। प्रेमचंद अपने उपन्यासों के माध्यम से अंग्रेजी साम्राज्यवादी शक्ति की जितनी भर्त्सना करते हैं उतना ही भारतीय पूंजीपतियों के भी खिलाफ खड़े होते हैं, उनका मानना था कि भारत को बर्बरता के साथ लूटने की आधारशिला भारतीय पूंजीपतियों ने ही निर्मित की थी। व्यक्तिगत लाभ हानि के लिए देश को निरंकुश हाथों में सौंप देना कहां का न्याय था? जमीदारों से लेकर साहूकारों ने जिस बर्बरता और अमानवीयता के साथ भारत के किसानों, मजदूरों को तथा छोटे काश्तकारों को लूटा वह भुलाया नहीं जा सकता।

रंगभूमि उपन्यास में इंदु के माध्यम से प्रेमचंद ने मानवीय धर्म को समझाते हुए अन्याय के प्रति प्रतिकार की मार्शल के साथ इंदु को खड़ा किया है। इंदु स्पष्ट कहती है, "मेरी समझ में नहीं आता कि आपने इस पद की कठिनाइयों को जानते हुए भी क्यों इसे स्वीकार किया। अगर आप न्याय-विचार से सूरदास की जमीन का अपहरण करते तो मुझे आपसे कोई शिकायत न होती, लेकिन केवल अधिकारियों के भय से या बदनामी से बचने के लिए न्याय-पथ से मुँह फेरना अत्यंत अपमानजनक है। आपको नगरवासियों और विशेषतः दीनजनों के स्वत्व की रक्षा करनी चाहिए। अगर हुक्काम किसी पर अत्याचार करें तो आपको उचित है कि दुखियों की हिमायत करें। निजी हानि-लाभ की चिंता न करके हुक्काम का विरोध करें। सारे नगर में, सारे देश में तहलका मचा दें, चाहे इसके लिए पद त्याग ही नहीं, किसी बड़ी से बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़े। मैं राजनीति के सिद्धांतों से परिचित नहीं हूँ, पर आपका जो मानवीय धर्म है, वह आपसे कह रही हूँ। मैं आपको सचेत किए देती हूं कि आपने अगर हुक्काम के दबाव से सूरदास की जमीन ली तो मैं चुपचाप बैठी न रह सकूँगी। स्त्री हूँ तो क्या, पर दिखा दूँगी कि सबल से सबल प्राणी भी किसी दीन को आसानी से पैरों तले नहीं कुचल सकता।"[8] इस कथन से यह स्पष्ट हो गया कि देश में गांधी के आत्मबल के सम्मुख ब्रिटिश सरकार कैसे नतमस्तक हो रही थी। यह आत्मबल और अहिंसा की शक्ति थी जो गांधी को गांधी बना रही थी। जिसपर चलते हुए गांधी अंग्रेजी शासन व्यवस्था, न्याय व्यवस्था, शिक्षा व्यवस्था की आलोचना मुखर होकर कर रहे थे तथा भारतीयों को संगठित रहने का मर्म समझा रहे थे। इस आधार पर यदि हम विचार करें तो गांधी का संपूर्ण चिंतन उनके अपने युग को ही नहीं बल्कि आज के युग को भी आलोकित करता है।

संदर्भ

1. शुक्ल, रजनीश कुमार, भारतीय ज्ञान परंपरा और विचारक, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2021, पृष्ठ संख्या 119। **2.** वही, पृष्ठ 117। **3.** वही, पृष्ठ 129। **4.** वही, पृष्ठ 131। **5.** द्विवेदी, सोहनलाल, सेवाग्राम (युगवतार गांधी), हिंदुस्तानी अकैडमी प्रयाग, संस्करण 1946, पृष्ठ संख्या 02। **6.** त्रिपाठी, रामनरेश, पथिक, हिंदी मंदिर सुल्तानपुर उत्तर प्रदेश चौसठवां संस्करण 1977, पृष्ठ संख्या 62। **7.** प्रेमचंद, रंगभूमि, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2011, पृष्ठ संख्या 323। **8.** प्रेमचंद, रंगभूमि, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2011, पृष्ठ संख्या 315।

सहायक प्रोफेसर, क्षेत्रीय केंद्र, कोलकाता
महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
मो.- 8090613455
ईमेल- bhuabhilash@gmail.com

●

अहिंसक प्रतिरोध : गांधी और वर्तमान

चित्रा माली

अहिंसक प्रतिरोध की संस्कृति को विकसित करने में गांधी जी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है और खासकर इन प्रतिरोधों के स्वरूप को भी उन्होंने अलग तरह से प्रस्तुत किया है जो आमजन के लिए भी अनुकूल है। अहिंसक प्रतिरोध की रणनीतियों में सूचना बारफेयर, पिकेटिंग, विजिल्स, लीफ्लेट्स, समिजडेट, मैंग्नीटिण्ड, सत्याग्रह, प्रोटेस्ट आर्ट, प्रोटेस्ट संगीत और कविताएं, सामुदायिक शिक्षा और चेतना वर्धन, लामबंदी, कर न चुकाना, सिविल अवज्ञा, बॉयकाट, सैद्धांतिक रूप से पुरस्कार या सम्मान ग्रहण न करना, धरना प्रदर्शन, सामान्य हड़ताल को शामिल किया जाता है। स्वतंत्रता के बाद भारत के आंदोलनों में और खासकर नव-सामाजिक आंदोलनों में अहिंसक प्रतिरोधों को क्रमशः देखा जा सकता है, जिन्हें गांधीवादी आंदोलन भी कहा जाता रहा है। अहिंसक प्रतिरोध दो प्रकार के होते हैं, पहला निष्क्रिय प्रतिरोध, जिसका प्रतिनिधित्व ईसा मसीह, डेनियल, सुकरात ने बिना किसी प्रतिरोध के पीड़ा और मृत्यु का वरणकर किया था और आगे चलकर टॉलस्टॉय ने भी इनका अनुसरण किया था, जिसके लिए कहीं अधिक साहस की आवश्यकता होती है। गांधी जी पर जिन पाश्चात्य विचारकों का सर्वाधिक प्रभाव था, उनमें से एक टॉलस्टॉय भी थे।

गांधी जी ने अहिंसक प्रतिरोध की शुरुआत दक्षिण अफ्रीका से की थी जो रंगभेद, नस्लभेद और गैर बराबरी पर टिकी व्यवस्था के विरुद्ध था। गांधी जी ने निष्क्रिय प्रतिरोध के लिए कहा था कि यह एक चौमुखा खड़ग है, इसे किसी भी तरह इस्तेमाल किया जा सकता है, यह उसका भी भला करता है जो इसका प्रयोग करता है और उसका भी जिसके विरुद्ध इसका प्रयोग किया जा रहा है। एक बूंद भी रक्त बहाए बिना यह दूरगामी परिणाम देता है।।[1] अहिंसक प्रतिरोध का दूसरा और प्रभावपूर्ण रूप जिसे महात्मा गांधी ने विकसित किया था वह था सक्रिय अहिंसक प्रतिरोध। इसके प्रवक्ताओं में आंद्रे सखारोव, मार्टिन लूथर किंग, वाक्लेव हैवेल, लेक वालेसा आदि, इसमें और भी कई नामों को शामिल किया जा सकता है। 2006 में शांति ऐथलॉजिस्ट जुडिथ हैंड ने युद्ध को समाप्त करने के लिए अहिंसक प्रतिरोधों के उपायों की एक रणनीति प्रस्तुत की है। वैश्विक परिदृश्य में भी 2004 के बाद से अहिंसक प्रतिरोधों या कहें अहिंसक क्रांतियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, अहिंसा के दर्शन को सामान्य जन तक पहुंचाने में इसमें रंगीन क्रांतियों (कलर्ड रेवोल्यूशन) को शामिल किया जा

सकता है जिनमें बनाना रेवोल्यूशन, ऑरेंज रेवोल्यूशन, ग्रेप्स रेवोल्यूशन, बुलडोजर क्रांति, पिंक रेवोल्यूशन को देखा जा सकता है, साथ ही प्रतिरोध करने के तरीकों में आए बदलाव को भी इनमें देखा जा सकता है। वैश्विक अहिंसक आंदोलनों व प्रतिरोधों का प्रभाव भारत में भी पड़ा था, जिसके फलस्वरूप 2006 में नक्सलियों द्वारा भी प्रतिरोध के लिए अहिंसा के मार्ग को चुना गया था। इनके द्वारा छत्रधर महतो की रिहाई के लिए भुवनेश्वर-दिल्ली राजधानी एक्सप्रेस ट्रेन को हाईजैक किया गया था और यात्रियों को बंदी बनाया गया था। साथ ही पूरी ट्रेन पर लाल रंग से छत्रधर महतो की रिहाई के लिए नारे लिखे गए थे। यात्रियों में बच्चों, बुजुर्गों, महिलाओं और पुरुषों से जब पत्रकारों ने सवाल किए तो अधिकतर लोग नक्सलियों के समर्थन में खड़े दिखाई दिए। कहने का आशय बस इतना है कि वे भी अहिंसा के महत्व को, उसकी शक्ति को मानने के लिए बाध्य हुए थे।

गांधी जी ने सक्रिय अहिंसक प्रतिरोध के स्वरूप को सत्याग्रह की अवधारणा के रूप में विकसित किया। अहिंसा के मूल्य को सर्वसामान्य के लिए सरल और सहज करने का कार्य गांधी जी के द्वारा किया गया जिससे अहिंसक विश्व समाज की स्थापना की जा सके और अंतिम पायदान पर खड़ा व्यक्ति भी अपने अधिकारों के लिए आवाज बुलंद कर सके। निष्क्रिय प्रतिरोध में भी जहां पीड़ा और मृत्यु तक का वरण है, सक्रिय प्रतिरोध में भी आत्म पीड़ा और सत्य के लिए अंतिम समय तक अडिग रहने के सिद्धांत का समावेश है। निष्क्रिय प्रतिरोध एक व्यक्ति का प्रतिरोध है तो वहीं सक्रिय अहिंसक प्रतिरोध सत्याग्रह को गांधी जी ने सामूहिक प्रतिरोध के रूप में तब्दील कर सभी को इसमें सहभागी होने का अवसर प्रदान किया है। जिससे यह सभी वर्गों, जाति, संप्रदाय, लिंग के लोगों के लिए अपनी बात अन्य लोगों तक पहुंचाने का एक साधन बन गया है, एक हिंसा रहित साधन जिससे अपने विरोधियों के हृदय को भी परिवर्तित किया जा सकता है। सत्याग्रह का शाब्दिक अर्थ सत्य के लिए आग्रह है। सत्याग्रह की दो प्रशाखा हैं, पहली सविनय अवज्ञा जो किसी भी अनुचित कानून को मानने से इनकार है और दूसरा असहयोग, जो किसी भी अन्यायपूर्ण वृत्ति या व्यवस्था के साथ सहयोग करने से मना करना है, इसलिए सविनय अवज्ञा राज्य के अन्याय के विरुद्ध प्रतिकार है जबकि असहयोग राजकीय अथवा गैर राजकीय किसी भी प्रकार के अनौचित्य का विरोध है। गांधी जी के अनुसार यह और कुछ नहीं बल्कि आत्म पीड़ा के नियम के ही नए नाम हैं। सत्याग्रह का प्रयोग बड़े शिथिल रूप में किया जाता है और उसमें प्रच्छन्न हिंसा का भाव भी शामिल माना जाता है। लेकिन गांधी जी ने इसे स्पष्ट किया है कि "सत्याग्रह में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, प्रच्छन्न या प्रकट सभी प्रकार की हिंसा का निषेध है; इसमें मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसा का कोई स्थान नहीं है। विरोधी को हानि पहुंचाने के विचार से उसके प्रति द्वेषभाव रखना या उससे अथवा उसके बारे में कठोर शब्दों का प्रयोग करना सत्याग्रह को तोड़ना है।"[2] असहयोग को नकारात्मक धारणा माना जाता है, लेकिन यह एक सकारात्मक धारणा है, गांधी जी असहयोग को, सहयोग की शुरुआत मानते हैं क्योंकि असहयोग का उद्देश्य वस्तुतः सहयोग से सारी नीचता और झूठ को निकाल फेंकना होता है।[3] सविनय अवज्ञा या सिविल (Civil Disabedience) शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम हेनरी डेविड थोरो ने किया था जो कि अमेरिकी विचारक थे। सविनय अवज्ञा और निष्क्रिय प्रतिरोध के सैद्धांतिक स्वरूप पर विमर्श की शुरुआत सोलहवीं शताब्दी में आरंभ हो चुकी थी। ला बोइती जो कि फ्रांस के राजनीतिक विचारक थे, उन्होंने अपनी किताब "डिस्कोर्स ऑन वालंटरी सरवीट्यूड" में कहा था कि अत्याचारी के अत्याचार के प्रतिकार का एक तरीका यह भी है कि उससे सहयोग न किया जाए।[4] थोरो ने अपने एक बहुत ही महत्वपूर्ण लेख

"ऑन द ड्यूटी ऑफ सिविल डिसओबीडियेंस" में राज्य और व्यक्ति के संबंध में कई प्रश्नों को उठाया है, जो राज्य और व्यक्ति या कहें नागरिक के संबंधों पर पुनर्विचार करने के लिए प्रेरित करते हैं। थोरो का सबसे पहला प्रश्न यह था कि हम पहले क्या हैं मनुष्य या प्रजा? राज्य की दृष्टि से हम पहले प्रजा या नागरिक हैं, मनुष्य बाद में, इसलिए राज्य की आज्ञा का पालन करना हमारी नैतिक जिम्मेदारी है। इसी के साथ हमें मनुष्य होने के अपने अधिकारों को भी नहीं छोड़ना चाहिए। क्योंकि सत्य महत्वपूर्ण है न कि विधान। अतः किसी ऐसे कानूनों का उल्लंघन करना बुरा नहीं है, जो मनुष्यों के अधिकारों और स्वतंत्रता का हनन करते हों। जीन रॉल्स ने अपनी किताब "अ थियरी ऑफ जस्टिस" में सविनय अवज्ञा को परिभाषित किया है- "यह सार्वजनिक, अहिंसक और अंतःकरण पर आधारित कार्यवाही होती है, जो कानून के विपरीत होती है, अमूमन इसका लक्ष्य यह होता है कि कानून या सरकार की दमनकारी नीतियों में परिवर्तन किया जाए।"[5] गांधी जी ने सविनय अवज्ञा के सिद्धांत को सत्य, अहिंसा और अहिंसक प्रतिरोध के अपने दर्शन से विकसित किया जिसका प्रयोग गांधी जी के द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र में व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों तौर पर किया गया। गांधी जी ने कहा था "सविनय अवज्ञा नागरिक का जन्मजात अधिकार है। वह अपनी आदमियत को खोये बगैर इस अधिकार को छोड़ने का साहस नहीं कर सकता है। सविनय अवज्ञा से कभी अराजकता उत्पन्न नहीं होती है। वह आपराधिक अवज्ञा से उत्पन्न हो सकती है। जिसे प्रत्येक राज्य बलपूर्वक कुचल देता है।"[6] गांधी के अनुसार "सत्याग्रही विवेकपूर्वक तथा स्वेच्छा से समाज के नियमों का पालन करता है, क्योंकि वह इसे अपना पवित्र कर्तव्य मानता है। समाज के नियमों का इस प्रकार पालन करने से ही वह ऐसी स्थिति में आ पाता है कि यह निर्णय कर सके कि कौन से नियम सही तथा न्यायोचित हैं और कौन से अनुचित तथा अन्यायपूर्ण।"[7] तभी सुनिश्चित परिस्थितियों में, किन्हीं नियमों की सविनय अवज्ञा करने का अधिकार उसे मिलता है।

सविनय अवज्ञा का सफल और ऐतिहासिक प्रयोग गांधी जी के द्वारा नमक सत्याग्रह में किया गया जो अनुचित कानून व्यवस्था के खिलाफ प्रतिरोध था, जिसमें कानून का उल्लंघन किया गया और परिणामस्वरूप जेल की यात्रा भी साठ हजार से अधिक लोगों ने की थी। गांधी जी के द्वारा सत्याग्रह की दोनों प्रशाखाओं का प्रयोग व्यापक जनता के बीच सफलतापूर्वक किया गया। इस क्रम में स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए किए गए प्रतिरोधों, खासकर असहयोग आंदोलन और सविनय अवज्ञा आंदोलन को देखा जा सकता है। अहिंसा दोनों में ही मूल शर्त है। 9 अगस्त 2020 के किसान आंदोलन को सविनय अवज्ञा की श्रेणी में रखा जा सकता है जो अनुचित कानून को मानने से इनकार है,.... लेकिन आम मध्यम वर्गीय परिवारों में या मध्यम वर्ग, निम्न वर्ग में आंदोलनों या प्रतिरोधों को लेकर अभी तक कोई स्पष्ट समझ विकसित नहीं हो पाई है, जो आंदोलनों या इन खास तरह के प्रतिरोधों को सही तरीके से समझ सके और इनकी जायज और वैध शिकायतों को समझ पाए। इस समय हम सभी किसी भी मुद्दे को समझने की जहमत नहीं उठाना चाहते हैं। जल्द सूचना पाने के लिए न्यूज चैनलों, व्हाट्सएप या अन्य सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म पर प्रसारित सूचनाओं और चल रही बहसों को ही अंतिम मानकर निर्णय पर पहुंच जाते हैं। यह सही तथ्यों तक पहुंचने में बहुत बड़ी बाधा है, इसीलिए हम मजदूरों के आंदोलनों, छात्रों के आंदोलनों, शिक्षाकर्मियों के आंदोलनों, बैंककर्मियों के आंदोलनों, आंगनबाड़ी कार्यकर्त्ताओं व आशा, उषा कार्यकर्त्ताओं के वेतन बढ़ोत्तरी के आंदोलनों को गंभीरतापूर्वक नहीं ले पाते हैं। इसके साथ ही आंदोलनरत समूह भी अपने आपको स्वतंत्र इकाई मानकर एक दूसरे का सहयोग नहीं करते हैं जिससे

सभी अलग थलग प्रतिरोध करते रहते हैं, जिसका व्यापक परिणाम सामने नहीं आ पाता है। गांधी जी ने सभी जनों को जोड़कर ही अहिंसक प्रतिरोध के मार्ग को अपनाया और वह सफल हुए। एक वर्ष से अधिक समय तक चले किसान आंदोलन को हमने किसानों के पिज्जा खाने, हलवा खाने, अन्य सुविधाओं से युक्त होते अवश्य देखा है लेकिन क्या उन अपने ही लोगों को भीषण सर्दी, गर्मी और बारिश की मार, इसके साथ ही कोरोना की मार को भी हम वस्तुनिष्ठ होकर देख पाए हैं या हम संवेदनहीनता के शिकार हो गए हैं जिससे कोई फर्क नहीं पड़ता है और ना ही हमारा ध्यान इन आंदोलनों पर जाता है।

मध्यम वर्ग भय और लालच से ग्रसित हो निर्णय लेने के लिए अभिशप्त रहता है। स्वतंत्र भारत में प्रतिरोध के लिए पहले राजपथ पर लोग अपना विरोध प्रदर्शन किया करते थे, लेकिन उन्हें वहाँ से हटा दिया गया, जिससे इन प्रदर्शनों का विदेशियों पर बुरा प्रभाव न पड़े। इन प्रदर्शनकारियों ने विरोध प्रदर्शन के लिए कनाट प्लेस में जंतर-मंतर वेधशाला के सामने प्रदर्शन करने की जगह को तलाश लिया जो राजसत्ता की नजरों से दूर थी लेकिन जनता की नजरों के समीप स्थित थी।[8] यह जगह कई नागरिक प्रतिरोधों की गवाह रही है, कई प्रतिरोधों को लंबे समय तक इसने देखा है लेकिन 9 अगस्त 2020 में किसानों को दिल्ली की सीमा तक में प्रवेश करने से रोक दिया गया था ठीक उसी तरह जिस तरह से गांधी को चंपारण में जब वे किसानों से मिलने जा रहे थे, उन्हें बीच रास्ते में ही गिरफ्तार कर लिया गया था। गांधी जी का भारत में पहला सत्याग्रह चंपारण सत्याग्रह ही था जो व्यापक किसान आंदोलन था। गांधी जी किसानों की स्थिति को सुधारने के लिए लगातार प्रयासरत रहें। रचनात्मक कार्यक्रमों में भी उन्होंने किसानों को शामिल किया। गांधी जी का कहना था, "किसान या खेतिहर, वह चाहे भूमिहीन श्रमिक हो या काश्तकार हो, पहले नंबर पर आते हैं। वह सही अर्थों में धरतीपुत्र है- धरती सचमुच उसकी है अथवा उसकी होनी चाहिए और वे उसकी मेहनत का सही मेहनताना उसे प्राप्त होना चाहिए।"[8] महज किसान आंदोलन को लेकर ही हमारी समझ ऐसी ही विकसित नहीं हुई है, या कमोबेश हम हर आंदोलन या प्रतिरोध को ऐसे ही देखने के आदि हो चुके हैं। अभी कुछ दिनों पूर्व ही अंतरराष्ट्रीय पदकों से सम्मानित कुश्ती खिलाडियों के यौन उत्पीड़न के खिलाफ हो रहे प्रतिरोध को भी हमने देखा है और उसे समाप्त होते हुए भी, जबकि इस घटना का संज्ञान लेते हुए अंतरराष्ट्रीय कुश्ती संघ ने भारत को बहार का रास्ता दिखाया।

पियरे बोरदियू ने 1994 में बहुत ही महत्वपूर्ण टिप्पणी की थी उसमें उन्होंने कहा था कि "सफल प्रदर्शन आवश्यक रूप से यह नहीं होता जिसमें बहुत बड़ी संख्या में लोग भाग लेते हों, बल्कि यह होते हैं, जो पत्रकारों के बीच कौतुक का विषय बन सकें। थोड़ी सी अतिशयोक्ति के साथ कहा जा सकता है कि पचास चतुर व्यक्ति यदि ऐसा कुछ कर पाते हैं जिसे टेलीविजन पर पांच मिनट का समय मिल सके तो उनका राजनैतिक प्रभाव पांच लाख प्रदर्शनकारियों से अधिक होता है।" इस टिप्पणी को न्यू मीडिया के संदर्भ में देखा जा सकता है, साथ ही इससे प्रतिरोध के तरीकों में आए परिवर्तनों को भी देखा जा सकता है। 2015 में तमिलनाडु से आए किसानों के द्वारा भी जंतर-मंतर पर 30 दिनों तक अलग-अलग तरीके से प्रतिरोध किया गया था, उसको भी व्यापक रूप से कवरेज नहीं मिल पाया था। वस्तुतः व्यापक समाज को इन आंदोलनों, प्रतिरोधों के प्रति संवेदनशील होना होगा तभी यह सफल हो सकते हैं। कर्नाटक के किसानों ने आम के सही दाम न मिलने पर कई टन आमों को सड़कों पर फेंका, कई अन्य जगहों पर भी अलग-अलग वस्तुओं को लेकर प्रतिरोध हुए हैं और हो भी रहे हैं जिनकी तस्वीरें सोशल मीडिया के साथ-साथ अन्य सभी माध्यमों पर उपलब्ध हैं। यही हाल

सभी प्रदेशों के किसानों का है, साथ ही अलग-अलग विषयों या मांगों को लेकर हो रहे विरोध प्रदर्शन या आंदोलनों को, चाहे वह राष्ट्रीय हो या अंतर्राष्ट्रीय, हर प्रतिरोध पर गंभीरता से विचार विमर्श की दरकार है। दिल्ली हाईकोर्ट के वर्ष 2021 के एक महत्वपूर्ण निर्णय ने नागरिक प्रतिरोधों, खासकर अहिंसक प्रतिरोधों को मान्यता प्रदान की है, जो राष्ट्र विरोधी गतिविधियों के अंतर्गत नहीं माने जायेंगे जिसने नागरिक प्रतिरोधों पर चल रही बहसों को कुछ हद तक कम किया है। इससे नागरिकों के असहमत होने के अधिकार को भी बल मिला है जो भारतीय लोकतंत्र के लिए आवश्यक कड़ी है। हर व्यक्ति सभी बातों से सहमत नहीं हो सकता है, उसे अपना पक्ष रखने, अपनी असहमति दर्ज कराने का पूरा अधिकार होना चाहिए जो उसका मौलिक अधिकार है और साथ ही स्वस्थ लोकतंत्र का आधार भी है। वर्तमान समय में भारतीय लोकतंत्र को, लोकतांत्रिक व्यवस्था को, लोकतांत्रिक मूल्यों को बचाए रखने के लिए इन नागरिक प्रतिरोधों की आवश्यकता को लगातार महसूस किया जा रहा है। अहिंसा का मार्ग ही वह अंतिम मार्ग है जिस पर चलकर ही हम अधिक मानवीय संवेदनाओं को अपने में समाविष्ट कर पायेंगे और असहमति तथा आलोचना को स्वीकारना सीख पाएंगे जो आलोचना व असहमति के सिमटते दायरे को बृहद कर सकता है।

संदर्भ

1. प्रभु आर. के. राव यू. आर. (2012), महात्मा गांधी के विचार, नेशनल बुक ट्रस्ट नई दिल्ली. पृष्ठ क्र. 154 । **2.** वही पृष्ठ क्र. 157। **3.** असहयोग। **4.** दुबे अभय कुमार (2013), समाज विज्ञान विश्वकोश खंड-- राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली। **5.** दुबे अभय कुमार (2013) समाज विज्ञान विश्वकोश खंड-- राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली। **6.** प्रभु आर. के., राव यू. आर. (2012), महात्मा गांधी के विचार, नेशनल बुक ट्रस्ट नई दिल्ली, पृष्ठ क्र.156। **7.** वही पृष्ठ क्र. 156। **8.** गुहा रामचंद्र (20)।

सहायक प्रोफेसर (गांधी एवम् शांति अध्ययन विभाग)
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय कोलकाता केंद्र
एकतारा, आईए-290, सेक्टर-3
सॉल्टलेक, कोलकाता-70097
मो.-9422905721

●

जो लोग प्रशंसा के भूखे होते हैं वे साबित करते हैं कि उनमें योग्यता नहीं है। जिसमें योग्यता होती है उसका ध्यान उधर नहीं जाता– **महात्मा गांधी**

बोझ हल्का हो जाता है यदि प्रसन्नतापूर्वक उठाया जाए– **ओविड**

हमें परेशानियों से बचने के लिए प्रार्थना नहीं करनी चाहिए, बल्कि उनका सामना करते वक्त भयमुक्त रहने की प्रार्थना करनी चाहिए– **रवीन्द्रनाथ टैगोर**

कला और सौन्दर्य

डॉ. अमरसिंह वधान

यदि महीन नज़र से देखा जाए तो कला आत्माभिव्यक्ति का सशक्त साधन है और इसे समझने के लिए सौन्दर्य दृष्टि की आवश्यकता होती है। कला-वस्तु के आन्तरिक पक्ष और बाह्य पक्ष भिन्नताएँ रखते हुए भी सौन्दर्य प्रदान करने का कार्य करते हैं। जीवन के प्रति दृष्टिकोण, सामाजिक नज़रिया, दैनिक कार्य-व्यवहार, रहन-सहन का स्तर, राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति, विशेष रूप से मनुष्य को रुचि कला को समझने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। व्यक्ति की प्रतिभा पर भी निर्भर करता है कि वह कला के प्रति किस तरह के भाव रखता है और कैसी अनुभूति महसूस करता है।

जहाँ कला मनुष्य की सौन्दर्य तृप्ति का साधन है, वहीं यह हमें सौन्दर्य को समझना भी सिखाती है। प्रारंभिक समाज का अध्ययन करते हुए मालूम होता है कि आरंभिक लोगों में जानवरों की चमड़ी, पंजे एवं दाँत, आभूषणों के तौर पर बहुत महत्व रखते थे। इसका कारण यह नहीं कि उन्हें रंग और नमूने आकर्षित करते थे, बल्कि सच्चाई यह थी कि आदि मानव स्वयं को जानवरों की खाल, चीते के पंजे या दाँत, हाथी दाँत, सींगों आदि से सजाता था और इन जानवरों की तरह फुर्तीला और ताकतवर समझता था, कई बार उन्हें हरा भी देता था। मत भूलिए कि विकास समय की जरूरतों को प्रभावित करता है, जिससे स्थिति भी बदलती है और कला के अर्थों को विशाल क्षेत्र मिलता है।

उल्लेखनीय है कि प्लेटो की सौन्दर्य अवधारणा चित्रकला पर आधारित है, जबकि उसके शिष्य अरस्तू ने कला में सौन्दर्य के महत्व को मान्यता दी, लेकिन सुन्दरता को कला का अंत नहीं कहा। उसका मानना है कि अनुकरण ही सौन्दर्य अथवा आनंद है। सौन्दर्य और प्रतिभा दोनों ही कलाकृति के सृजनार्थ जरूरी हैं। जिस प्रकार किसी वस्तु की सुन्दरता का अंदाजा लगाने के लिए स्वाद जरूरी है, उसी प्रकार वस्तु के उत्पादन के लिए प्रतिभा आवश्यक है। प्रकृति की सुन्दरता एक सुन्दर वस्तु है और कला की सुन्दरता वस्तु के प्रदर्शन के सौन्दर्य में है। क्रोचे का मत है कि 'कला एक अखंड अभिव्यक्ति है।' कला जब मूर्त रूप में उपस्थित होती है, तब उसके विभिन्न रूपों के दर्शन होते हैं। इन रूपों की भिन्नता में तात्त्विक भिन्नता न होकर केवल बाह्य भिन्नता होती है, जबकि उसकी मूल अभिव्यक्ति एक ही रहती है। ज्ञातव्य है कि भारतीय विचारकों ने काव्य (साहित्य) को कला से भिन्न माना है। कारण यह कि काव्य

की गणना विद्या में तथा कलाओं की गणना अविद्या में की गई है। चित्र, मूर्ति, स्थापत्य, संगीत आदि कला के क्षेत्र में आते हैं। साहित्य (काव्य) और संगीत की चर्चा एक साथ की गई है-- 'साहित्य संगीत कला विहीनः, साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीनः।'

रेखांकनीय है कि काव्य एवं संगीत में रस को लक्ष्य माना गया है, जबकि अन्य कलाओं में कौशल एवं उपयोगिता पर बल दिया जाता है। लुहार और कुम्हार का ध्यान वस्तु के उपयोग पर होता है, न कि सौन्दर्य पर, कहने का प्रयोजन यह है कि सौन्दर्य गौण और उपयोग प्रधान होता है। जहाँ वस्तु को शब्द, रंग, रेखा आदि के माध्यम से पुनः प्रस्तुत किया जाए, वहीं सौन्दर्य होता है। यह कहना महत्वपूर्ण है कि सभी कलाओं में विचार, भाव और कल्पना की अभिव्यक्ति होती है। ताजमहल और कुतुबमीनार को देखकर अनेक भावों तथा बोधों से हृदय उर्मिल हो उठता है, नटराज एवं बुद्ध की मूर्तियाँ कितने भावों और विचारों से हमारे मानस को तरंगित कर देती हैं। अजन्ता, एलोरा, ऐलिफेन्टा की मूर्तिकला को देखकर हमें अनिर्वचनीय कलात्मक अनुभूति होती है। अनुभूति और आनन्द की दृष्टि से सभी ललित कलाएँ (चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य कला, संगीतकला, काव्यकला आदि) जिस प्रकार अपने माध्यमों की विशिष्टता रखती हैं, वैसे ही अपने सौन्दर्य में भी वे विशिष्ट हैं। हमारे यहाँ 'अनुभव' को ही सबसे प्रामाणिक माना गया है। कला का सौन्दर्य सहृदय की मानसिक अवस्था को उद्दीप्त करने में ही है।

यह सच है कि स्थितियों के बदलने एवं वैज्ञानिक विकास की गति तेज होने से सौन्दर्य एवं कला संबंधी धारणाओं एवं मापदंडों में भी बदलाव आया है, भले ही सुन्दरता और कला का मानवीय संवेदनाओं से गहरा जुड़ाव है। कला की विषय-वस्तु जनता पैदा करती है, जो कलात्मक आनंद एवं सौन्दर्य को मानने में समर्थ है। यह भी देखा गया है कि प्रत्येक सुनिश्चित कलाकृत्ति अपने लिए अनुकूल रूप सुनिश्चित करती है। रूप की भीतरी कमी कलाकृति की भीतरी कमी से ही पैदा होती है। गैलेलियो ने ठीक ही कहा है- "स्वाद, गंध, रंग और अन्य बहुत कुछ जो वस्तु की मल्कियत है, उनकी सही जगह निरीक्षणकर्त्ता की सहज बुद्धि में है।" कला और सौन्दर्य के विषय में डॉ. नगेन्द्र ने बड़ी सुन्दर बात कही है-- "कला प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है, लेकिन सौन्दर्यशास्त्र की पद्धति टेढ़ी और जटिल होती है।"

यह जानना भी दिलचस्प है कि कला केवल साहित्य, रंगमंच, चित्रकारी, संगीत आदि में ही नहीं, अपितु यह पशु प्रजनन, प्लास्टिक सर्जरी, सुन्दर व्यवहार, सुगंध, भोजन बनाना, शराब बनाना, भोजन प्रयोग विद्या, कपड़े डिजाइन करना, बालों को सँवारना आदि भी कला के विशाल क्षेत्र हैं। उल्लेख्य है कि प्राचीन यूनानी 'टैकने' शब्द कला एवं कारीगर के लिए इस्तेमाल करते थे। सौन्दर्य केवल कला और प्रकृति के बारे में बयान ही नहीं करता, बल्कि सुन्दर अथवा भद्दी वस्तुओं के विषय में भी विवेचना करता है। यह सब कुछ प्रकटीकरण, बुद्धि एवं मनोवृत्ति पर निर्भर करता है। सौन्दर्य पक्ष का निर्णय करने के लिए व्यक्ति की पारदर्शी दृष्टि एवं बुद्धि पर निर्भर करता है कि वह वस्तु, प्राणी, कला, भवन, नृत्य, संगीत, काव्य, व्यक्तित्व प्रकृति आदि के आन्तरिक अथवा बाह्य किस पक्ष से अधिक प्रभावित होता है। आश्चर्य नहीं कि यही प्रभाव खुशी प्रदान करता है। मानवीय भावनाएँ काव्य, कला अथवा ललित कलाएँ, जीवन शैली, दैनंदिन व्यवहार से संबंधित वस्तुएँ, कारीगरी आदि के प्रति उत्पन्न हुई खुशी या आनंद सौन्दर्य दर्शन को दर्शाता है।

वैसे सौन्दर्य के अर्थों का विस्तार होता रहा है और मनुष्य का नज़रिया काल की स्थिति के साथ बदलता भी रहा है। मिसाल के तौर पर विक्टोरिया युग के लोगों को अफ्रीकी बुत भद्दे नजर आते थे, जबकि एडवर्ड के समय दर्शकों को वही बुत खूबसूरत नज़र आए। तर्कसंगत तथ्य यही निकलता है कि सुन्दरता

का मूल्यांकन मनुष्य की इच्छा एवं चाहत के जरिए विश्वसनीय बनता है। परन्तु यह भी सही है कि इसका निरीक्षण आर्थिक, राजनीतिक एवं नैतिक मूल्यों पर निर्भर करता है। भोजन की तलाश में रहने वाले मनुष्य के लिए कला और इसके सौन्दर्य के प्रति उत्सुकता नहीं होती। लेकिन यदि वह आर्थिक पक्ष से संपन्न एवं समर्थ है तो उसकी उत्सुकता महत्व रखती है। सच्चाई यह है कि कला प्रेमी ही कला का आनंद ले सकता है। हर कला का एक अस्तित्व है। मनुष्य की अन्दरूनी ताकत एवं अन्तर्दृष्टि ही कला के प्रति उसकी जिज्ञासा को उभारती है। मनुष्य का विवेक एवं ज्ञान अपने आप में मनुष्य की ज़रूरी ताकत है। मनुष्य की इच्छा, प्रेम, बुद्धि, जिज्ञासा, स्वभाव, प्रवृत्ति आदि उसे किसी सुन्दर वस्तु या खूबसूरत कलाकृति की ओर आकर्षित करते हैं।

सौन्दर्यात्मकता की दृष्टि से भारतीय कला के सौन्दर्य का आरंभ आध्यात्मिकता अथवा दार्शनिकता के तहत हुआ। प्राचीन भारतीय वास्तुकला, भवन-निर्माण, बुतकारी, चित्रकारी, साहित्य, नृत्य इनमें सांकेतिक और आध्यात्मिक बयान ही था। उस समय इनका प्रमुख रुझान अध्यात्म एवं राजतंत्र के साथ संबंधित था। लेकिन आधुनिक युग में इन्हें सौन्दर्य दृष्टि से देखा जाता है। पुरातनकालीन, मध्यकालीन एवं आधुनिककालीन समय के भवन-निर्माण, साहित्य, बुतकारी, कारीगरी, चित्रकारी की अन्दरूनी और बाहरी पर्तों के बीच संकेतों के अर्थ और भवनों की निर्माणकारी के अहम नुक्ते सौन्दर्य की विशेषता हैं। लेकिन इनके निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले श्रमिकों-कारीगरों की दृष्टि निश्चित रूप से भिन्न रही होगी।

गौरतलब है कि कला से प्रचार की माँग करना बेमानी है, सच्चा कलाकार तो हमारी भावना शक्ति को प्रेरणा देता है, एक क्रांति पैदा करता है। इतिहास साक्षी है कि भारत में मथुरा, साँची, सारनाथ, बोधगया, अमरावती, अजंता, एलोरा आदि बौद्ध और बौद्ध मूर्तिकारों ने अपनी मूर्तियों में भारतीय लोकजीवन में प्रचलित लोकसंस्कृति के भिन्न प्रतीकों के माध्यम से मूर्तिकला के क्षेत्र में एक अभूतपूर्व क्रांति पैदा करके विश्व को चकित कर दिया था। यह कहना भी कोई कम महत्वपूर्ण नहीं है कि प्रत्येक ऐतिहासिक दौर का अपना एक कलात्मक रूप होता है, जो समय की कलात्मक जरूरतों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। प्रमाण के तौर पर वैदिक काल में वेद, उपनिषद्, बुद्ध धर्म की आकृतियाँ, जैन धर्म के मंदिर, मूर्तिकला आदि के सौन्दर्य को आध्यात्मिक अर्थों में व्यक्त किया गया। मध्यकाल में मुगलकाल की भवन-निर्माण कला विलासितापूर्ण रही जबकि उस समय आध्यात्मिक रंगत वाला साहित्य रचा गया। कला का विकास काल की प्रवृत्ति के अधीन होता रहा। लेकिन समय के साथ इसके प्रति मानवीय दृष्टिकोण में तबदीली आई और अर्थों में विस्तार हुआ।

इसमें मतैक्य है कि कला मनुष्य की प्रकृति है और इसको, सामाजिक शक्ति को संगठित करने वाली विधि के रूप में भी देखा गया है। कलाकार बाह्य जगत को, जैसा वह है, उसी रूप में नहीं लेता, बल्कि इसे एक निर्मित संरचना के तौर पर लेते हुए इसकी वास्तविक प्रकृति को प्रकट करके इसकी पुनर्रचना करता है। यह तथ्य भी गौर करने लायक है कि साहित्य और समाज में जो मुठभेड़ जारी रहती है, कलाकृति उसका प्रकटीकरण होती है। कला सृजना, अचेत और सचेत तौर पर मनुष्य के विवेक, कल्पना, अनुभव, प्रकटीकरण, विचार, जीवन-शैली, परिवेश, सामाजिक परिस्थितियाँ सदैव साथ रहती हैं। सृजना कला के रूप में सामने आती है।

कला का सबसे महत्त्वपूर्ण और दिलचस्प पक्ष है, कलाकार की सृजनात्मक सोच। कलाकार हमेशा चिंतन और विचारों से कार्य करता है, लेकिन उसके सोचने का ढंग और सोच विशेष प्रकार की होती है। इसकी जड़ें संकल्पों में नहीं, बल्कि बिंबों में होती हैं।

यूँ तो कलाकार संकल्पों का भी सहारा लेता है, परन्तु उसके सृजनात्मक अमल को बिंब ही पेश करते हैं। जाहिर है कि कला में बुनियादी महत्त्व कला के 'प्रभाव' का है। सवाल उठता है कि हम कला का आनंद कैसे लें? उत्तर में यही कहना है कि कला का आनंद लेने के लिए अनुभव की आवश्यकता होती है। फिर कला का आनंद भी पूर्णतया लेना चाहिए। किसी कविता, मूर्ति, चित्र का यदि आप आनंद लेना चाहते हैं तो आपको स्वयं ही उन्हें देखना होगा। किसी कलाकृति में आनंद तब तक प्राप्त नहीं होता जब तक आप स्वयं को उसमें लीन न कर दें। संसार में जितनी कलाएँ हैं, उन सबके बारे में कुछ जान लेना बड़ा कठिन है, फिर दुनिया के सर्वोत्तम चित्र अथवा मूर्तियों को देख लेना भी संभव नहीं।

कला का मूल्य समय पर निर्भर करता है और जब तक कुछ समय व्यतीत नहीं हो जाता, यह कहना कठिन है कि कौन-सी कला श्रेष्ठ है और कौन-सी नहीं। हर कलाकृति आदर की माँग करती है। लेकिन दूसरों के निर्णय के अनुसार अपना निर्णय एवं मत नहीं बनाना चहिए। इसीलिए कला के क्षेत्र में 'कलाकार' और 'कलापारखी' दोनों का समान महत्व है। एक के अभाव में दूसरा अपना निज अस्तित्व खो बैठता है। कला की उन्नति में जब तक पारखी योग नहीं देते, तब तक कला फल-फूल नहीं सकती। मैनज़ोनी का विचार है कि "कलाकृति के भीतर ही वे नियम व्यापक होते हैं, जिनके आधार पर उसकी आलोचना करनी चाहिए।" कलाकार अपनी कला में स्वयं जितना रस लेता है, उतना ही रस वह दूसरों को देना चाहता है। कला का सच्चा गौरव 'स्वान्तः सुखाय' में न होकर 'परान्त सुखाय' की भावना में ही निहित है। यह किसी भी प्रकार संभव नहीं है कि एक कलाकार सुन्दर चित्र की रचना करके स्वयं आनंद विभोर हो ले तथा दूसरों को उस सौन्दर्य की रसात्मकता से वंचित रखने के लिए चित्र को नदी में बहा दे।

कला का इतिहास साक्षी है कि कलाकार का दृष्टिकोण सदैव ही परमार्थी रहा है। उसने अपनी कला को कभी अपने तक ही सीमित नहीं रखा। चित्रकार सुन्दर चित्रों की रचना करता है, दर्शकों के लिए। मूर्तिकार या भवन निर्माता भी अपनी कला में सौन्दर्य भावना का समावेश दर्शकों के हृदय में आनंद की धारा प्रवाहित करने के लिए करता है, अपने लिए नहीं। ज़ाहिर है कि कला का सृजन लोक के लिए होता है, मात्र व्यक्ति के लिए नहीं। कलाकार और कला-मूल्यांकन का संबंध जीवन के आदिकाल से आज तक अविच्छिन्न रहा है। यदि किसी देश में कला के सच्चे पारखी नहीं होंगे तो कला और कलाकार दोनों का भविष्य अंधकारमय रहेगा।

यह कहना एकदम वाज़िब है कि कला को देखने, जाँचने, परखने और उसकी तह तक पहुँचने के लिए सौन्दर्यशास्त्र एक वैज्ञानिक विधि है जिसके ज़रिए विचारों भावों का मूल्यांकन करने के लिए उसके ऐतिहासिक एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य को ध्यानपूर्वक-परखते ही पर्तें खोली जा सकती हैं। सौन्दर्य अपने आप में विशेष संस्कृतियों एवं विशेष सांस्कृतिक संदर्भों में मौलिक एवं अलग-अलग अर्थ ग्रहण कर जाता है। इस सच्चाई के लिए किसी सबूत को ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं कि सौन्दर्य का ललित कलाओं के अध्ययन के लिए ज्ञान विधि के तौर पर विश्वसनीय प्रयोग हुआ है। प्लेटो के सौन्दर्य संबंधी विचार आदर्शवादी चिंतन पर आधारित थे। अरस्तू को सौन्दर्यशास्त्र का प्रवर्तक माना जाता है। उसने संगीत और सौन्दर्य संबंधी स्पष्ट विचार प्रकट किए। काण्ट की सौन्दर्य संबंधी विचार चर्चा को उसके शिष्य कवि शिलर ने आगे बढ़ाया। वाल्टेयर, ह्यूम, बर्क, ड्राईडन, जॉन्सन, फ्राइड, क्रोचे, मार्क्स आदि चिंतकों ने सौन्दर्य को अपने-अपने ढंग से परिभाषित करते हुए कला को परखने के संबंध में इसके महत्व को दर्शाया। यह कहना भी प्रासंगिक है कि वह प्रत्येक सांस्कृतिक सृजन, साहित्यिक सृजन अथवा प्राकृतिक सृजन जो मानवीय संवेदना के

सौन्दर्यात्मक प्रभाव का सृजन करे सौन्दर्यशास्त्र का विषय क्षेत्र है। इस प्रखर संदर्भ में कला के विभिन्न रूप सौन्दर्य सर्जना के विभिन्न रूप कहे जा सकते हैं।

एक मार्के का तथ्य यह भी है कि सौन्दर्य संवेदना में सौन्दर्य का मनुष्य की चेतना और सामर्थ्य के साथ गहरा संबंध है। कला का भीतरी प्रमुख तत्त्व भी तो सौन्दर्य ही है, जिसके कारण मनुष्य की संवेदना प्रभावित होती है। कला के कौन-से प्रमुख प्रभावी तत्त्व सौन्दर्य की दृष्टि से खरे उतरते हैं, इसके साक्ष्यांकन के लिए कला की विशेषाताओं से प्रभावित होकर ही सही निर्णय पर पहुँचा जा सकता है। सौन्दर्य पक्ष का निर्णय करने के लिए व्यक्ति की पारदर्शी दृष्टि और बुद्धि पर भी निर्भर करता है कि वह कला के आन्तरिक या बाह्य सौन्दर्य के किस पक्ष से अधिक प्रभावित होता है। कला का सृजन करना और गंभीरता से उसकी परख करना भी सृजना की तरह है। जो कलाकार सच की अभिव्यक्ति से जितनी गहराई से हमारे मन को स्पर्श करता है, वह उतना ही उच्च एवं उत्तम कलाकार है। कहना न होगा कि कला में ऐसे भावों का बोध ही सौन्दर्यानुभूति है और यही सौन्दर्य संवेदना का सौन्दर्य तत्त्व है।

बोसाँक ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सौन्दर्य का इतिहास' की भूमिका में लिखा है-- "सौन्दर्यशास्त्र दर्शन का एक अंग है। केवल ज्ञान के प्रति अभिरुचि के कारण ही इस शास्त्र का अध्ययन होना चाहिए ना कि इसलिए कि इसके पठन-पाठन से कला की सृष्टि में सहायता मिलेगी।" लेकिन इस सच्चाई को भी परे नहीं किया जा सकता कि सौन्दर्यशास्त्र कला और सौन्दर्य को परिभाषित करता है, सृष्टि-सृजन के क्षणों पर विचार करता है, स्पष्ट व्यवस्थित और तर्कसंगत विचार रखता है। काण्ट ने सौन्दर्य के बारे में बड़ी सुन्दर बात कही है-- "सौन्दर्य वह है जो लाभ की भावना के बिना ही आनंद देता है।" उन्होंने सही कहा है, क्योंकि किसी सुन्दर दृश्य अथवा कलाकृति को देखते समय लाभ की भावना नहीं होती, फिर भी हम आनंदित होते हैं। यह भी स्वीकारा जाना चाहिए कि सौन्दर्य सर्वदा उपयोगी होता है, कारण यह कि उसमें उपयोगिता तत्त्व छिपा रहता है। इसी छिपाव या गोपन अथवा व्यंजना के कारण कला का जन्म होता है। तभी तो अभिनव गुप्त ने कला को 'ध्वनि' कहा है औ सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से यह आज भी सत्य है और सर्वदा सत्य रहेगा। बिना शक, कला का आनंद मनुष्य-जाति के लिए उपयोगी होता है और इसका प्रभाव हमारी कल्पनात्मक अथवा भावनात्मक शक्ति पर पड़ता है।

आश्चर्य नहीं कि कला और सौन्दर्य की रासायनिकी में एक विशिष्ट प्रकार के संयम की मौजूदगी होती है। सौन्दर्य का मूल स्रोत प्रकृति है, यह जगज़ाहिर है। प्रकृति मनुष्य को सौन्दर्यमयी सामग्री और सौन्दर्य संवेदना प्रदान करती है। यदि हम प्रकृति को सुन्दर मानते हैं और किसी कलाकृति को खूबसूरत मानते हैं तो इसका कारण इनमें मौजूद भीतरी संयम ही है। इसी संयम के कारण प्रत्येक सुन्दर वस्तु हर किसी को सुन्दर ही लगती है। लेकिन सुन्दरता पैदा करने के लिए कलाकार को एकसुरता, अनुपातता और रंग-रेखाओं के नियमों का पालन करना होता है ताकि कला संयम बना रहे। कला का स्रोत और सौन्दर्य की भूख मनुष्य कुदरत में से ही प्राप्त करता है। कला की जितनी उत्पत्ति-प्रगति आज तक हुई है, वह मनुष्य की सुन्दरता के प्रति इस स्वाभाविक आकर्षण के कारण ही हुई है। सौन्दर्यानुभूति और कला अनुभूति मनुष्य के अंदर जन्मजात गुण हैं। प्रकृति का संयम कला और सौन्दर्य में भी संयम स्थापित करता है।

प्रोफेसर एमरिटस
निदेशक-उच्चतर शिक्षा एवं शोध केन्द्र
3150, सेक्टर 24-डी
चंडीगढ़-160023
मो.-9876301085
ई-मेल-aswadhan@gmail.com

●

वैदिक संस्कृति में देवी-देवताओं की सांगीतिक स्थिति

डॉ. वन्दना चौबे

संगीत वेदों का मूलाधार तत्व है, संगीत तत्व की दृष्टि से ऋग्वेद की यह पंक्ति दृष्टव्य है 'पश्य देवस्य काव्यं न ममार जीर्यतिः', इसमें वेद को देवकाव्य कहा गया है। काव्य सदैव संगीत प्रधान होता है।[1] इसलिए उसका दूसरा नाम है 'गेय'। काव्य की आत्मा ध्वनि है और यही ध्वनि संगीत का आधार है। कहने का आशय है कि वेद स्वराश्रित है अर्थात संगीतात्मक है। वेद भारतीय संगीत के उद्गमस्थल और प्राचीनतम रूप के संरक्षक माने गये हैं। ऋग्वेद मंत्रद्रष्टा ऋषियों का आर्षकाव्य है, सामवेद ऋग्वेदीय ऋचाओं का संगीतबद्ध संग्रह है। यजुर्वेद प्रायः गद्यात्मक है तथा अथर्ववेद अर्थवन (मांगल्यप्रद) और आंगिरस (अभिचार विषयक) मंत्रों का संकलन है। 'गांधर्ववेद' सामवेद का उपवेद कहा गया है जो उस महत्वपूर्ण संगीत का आधार का। वेदों ने समस्त जीवन को ही संगीत माना है। ऋग्वेद ज्ञानकाण्ड है, रचना में पद्य प्रधान है और यजुर्वेद कर्मकाण्ड माना जाता है, इसके बाद सामवेद संगीत प्रधान है अर्थात् ज्ञान और कर्म की परिसमाप्ति या पूर्णता संगीत में ही होती है। वैदिक पद्धित में विवाह के समय पाणिग्रहण के छः मंत्रों के उपरान्त अथर्ववेद का एक मंत्र अनिवार्य रूप से पढ़ा जाता है जिसमें पति घोषणा करता है कि तुम ऋक हो और मैं साम हूँ अर्थात जीवन के संगीत को स्वर देने वाला मैं हूँ और तुम ऋग्वेद के समान ज्ञान का विस्तार करने वाली अर्थात संगीत की साधना हो।[2] साम का साहित्य या कलेवर ऋग्वेद का प्रसाद है किन्तु उसकी आत्मा संगीत से अनुप्राणित है। कंठ वैशिष्ट से गाया गया साम देवताओं की प्रीति और विशिष्ट फल का प्रदायक माना गया है।[3]

उस (वैदिक) काल में संगीत का उदात्त और उत्कृष्ट रूप विद्यमान था जिससे उद्भूत 'रस' (आनन्द) अलौकिक और ब्रह्मानन्द सहोदर माना गया है - *रसो वै सः। रसंहपेवायं लब्ध्वानंदी भवित।*[4] इसी दिव्यानंद का प्रलोभन कठोपनिषद् का यमराज, नचिकेता को देता है- *ये ये कामा दुर्लभामृत्युलोके सर्वान्कामान्छन्दतः प्रार्थयस्व। इमा रामा सरताः सतूर्या न ही दृशा लम्भनीया मनुष्यैः।।.....* अवि सर्व जीवितमल्पमेव तवैव वाहस्तव नृत्तगीते।।[5]

वैदिक युग में संगीत की दो धाराएं प्रवाहित थी - वैदिक और लौकिक। वैदिक संगीत यज्ञादि तक सीमित धार्मिक संगीत था जिसमें ऋक, यजु, साम तथा निगद मंत्रों का सस्वर पठन या गायन किया जाता था। लौकिक संगीत के अन्तर्गत उस संगीत का अंतर्भाव था जो

यज्ञ के अवसरों पर यज्ञ के बाद तथा अन्य लौकिक प्रसंगों पर गायन, वादन तथा नृत्य के रूप में किया जाता था। प्रथम प्रकार का गीत 'सामगान' के नाम से विख्यात हुआ तथा दूसरे की लौकिक संज्ञा विश्रुत हुई। सामगान का आधार 'साम' माना गया है। ऋक मंत्रों के ऊपर गाये जाने वाले गान ही वस्तुतः साम शब्द के वाच्य हैं।[6] साम का साहित्य कलेवर ऋगवेद का प्रसाद है, किन्तु उसकी आत्मा संगीत से अनुप्राणित है। कंठ वैशिष्ट से गाया साम देवताओं की प्रीति और विशिष्ट फल का प्रदायक माना गया है।

ऋग्वेद के मंत्रों द्वारा परमात्मा की स्तुति की जाती है। यजुर्वेद के मंत्रों द्वारा यज्ञ किया जाता है और सामवेद के मंत्रों द्वारा उस परमात्मा का गान किया जाता है। साम को वाक् और प्राण की समवेत मूर्ति कहा गया है। वाक् शक्ति या प्रकृति और प्राण शिव या पुरुष में कल्पित है। इस शिव शक्ति के मिलन को ही संगीत सृष्टि का कारण बताया गया है। वास्तव में शब्द से ही संगीत की सृष्टि है। प्राणवायु और इच्छा शक्ति के मिलन से सूक्ष्म स्वर नाद की सृष्टि है। नाद के दो रूप हैं - आहत और अनाहत। आहत नाद विभिन्न रूप के परिवेश में कण्ठ के माध्यम से बाहर प्रकट होता है और अनाहत नाद आंतरिक ध्वनि है जिसे ऋषि-मुनि साधना के बल पर सुन सकते हैं। देवताओं के उद्बोधन व आविर्भाव हेतु जहाँ जप, तप व ध्यान आदि साधन बताये गये हैं, वहां ध्वनि व नाद भी एक साधन है।

वेदों में 'सामगान' का एक विशिष्ट पारम्परिक रूप और उसकी निश्चित गायन प्रणाली थी (छन्दोबद्ध ऋक्मंत्रों का स्वरों में गाया जाना सामगान कहलाता है।) सामगान में सप्तस्वरों का प्रयोग 'साम प्रतिशाख्य पुष्पसूत्र' नामक ग्रंथों में पाया जाता है यथा - *एतेर्भवैश्च गायन्ति सर्वाः शास्त्राः पृथक-पृथक। पंचस्ववेव तु गायन्ति भूमिष्ठानि स्वरेषु तु।। सामानि षटषु चान्यानि सप्तषु द्वे तु कौथुमाः। उनानामन्यथागीतिः पदानामधिकाश्च ये।।*[8]

वैदिक संगीत नामानुरूप यज्ञादि अनुष्ठानों का अंग था। पाठ्य दृष्टि से जिन तीन स्वरों का उपयोग किया जाता था उन्हें उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित कहते थे।[9] इन्हें स्थान स्वर कहा गया है। बाद में इन्हें मन्द्र, मध्य और तार की संज्ञा दी गयी। इस प्रकार इन तीन स्थान-स्वरों से लौकिक सात स्वरों की सृष्टि हुयी यथा- उदात्त से गांधार एवं निषाद, अनुदात्त से ऋषभ एवं धैवत तथा स्वरित से षड़ज, मध्यम एवं पंचम। साम संगीत के विकास के साथ ये सप्त स्वर भी विकसित हुए। साम संगीत में स्वर संज्ञाओं का क्रम इस प्रकार है- क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य। नारदीय शिक्षा में साम तथा लौकिक स्वरों में सामंजस्य स्थापित किया गया है। उसके अनुसार सामगायकों का 'प्रथम' संज्ञक-स्वर वेणु का मध्यम है, द्वितीय स्वर वेणु का गन्धार, तृतीय स्वर वेणु का ऋषभ, चतुर्थ स्वर षड़ज है, पंचम स्वर धैवत है, षष्ठ स्वर निषाद है तथा सप्तम स्वर पंचम का पर्याय है।[10] स्वरों की परिभाषा संज्ञायम थी।

स्वरों के इस विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वैदिक काल में ही सात लोकों के समान पूर्ण स्वर सप्तक की स्थापना हो चुकी थी। सात लोकों में 1. भूः 2. भुवः 3. स्वः 4. महः 5. जनः 6. तपः तक तो सभी संगीत में चलते हैं। छठा तपः कुछ कठिन है परन्तु माना जाता है कि मदमस्त हाथी, क्रुद्ध नाग छठे स्वर के ही वश में होते हैं। इसलिए इसे 'नागस्वर' और 'लोकों' में 'तपः' लोक कहते हैं। सातवां लोक 'सत्य' लोक है, जिसका प्रतीक 'सा' है। यह सत्य लोक था 'सप्तम' स्वर ही जीवन और प्रकृति की सार्थकता है। इस प्रकार वैदिक साहित्य प्रकृति और ब्रह्माण्ड को संगीत के माध्यम से एकाकार करना मानता है।

वेदों में गायन के साथ ही वाद्य तथा नृत्य का भी उल्लेख मिलता है- *महसे वीणावादम् क्रोशाय तूणवध्यं अव्यरसपरायशंखध्यम्।*[11] *महसे वीणावादम्*

पाणिध्यं तूणवध्यम तान् नृत्ताय आनन्दाय तलवम्।[12] इन मंत्रों में वीणा वादन, ढोल, ढक्का या तुरही बजाना, शंख बजाना, हाथों से तूणव आदि बजाना, तलब अर्थात करताल बजाना और नृत्य का संकेत स्पष्ट रूप से है। ऋग्वेद के 'उषस सूक्त' में नवोदित उषा की स्वर्णिम आभा को देखकर वैदिक ऋषि को सुसज्जित नर्तकी का स्मरण हो आता है। नृत्यकला कुशल तथा यौवन-सम्पन्न नारी के समान उषा का अंगाभिनय मुग्धकारी बना देता है।[13]

नटराज शिव सर्वश्रेष्ठ नर्तक हैं। ऋग्वेद में शिव के समान रुद्र दर्शाये गये हैं। रुद्र आंधी-तूफान, प्रलय को लाने वाले देवता हैं। उनकी गति प्रचण्ड तालात्मक रूप लिये हुए है। वे आंधी के वेग से चलते हुए पृथ्वी आकाश को कंपित करते हैं, अपने प्रचंड ताल में एक-एक भाव को भी व्यक्त करते हैं। इस तालमय प्रचण्ड प्रलय का वह रूप ही ताण्डव का प्रारम्भिक नृत्य रूप दिखायी देता है। रुद्र संहार के द्वारा अपना सर्वशक्तिमान रूप प्रदर्शित करते हैं, इस प्रकार रुद्र का प्रचण्ड तालात्मक व शक्तिशाली रूप एक ओजस्वी सृजनकर्ता का रूप प्राप्त करता है। नृत्य का यह आधार रूप मनुष्यों में भय व्याप्त करता है, विस्मय का बोध कराता है और रक्षा के लिए प्रेरित हो, भक्ति को उत्पन्न करता है। जबकि शक्ति, शिव का एक समाहित अंग है, शक्ति का प्रारम्भ हमें ऋग्वेद से ही दिखाई देता है। रुद्र की शक्ति का जो स्वरूप है वह नटराज शिव से पृथक नहीं कहा जा सकता। उनका स्वरूप आकाश के सदृश ही विशाल और अनन्त कहा गया है जो शिव के समान रक्षात्मक और विनाशकारी पक्ष को प्रकट करता है। ऋग्वेद में रुद्र, शिव के ही समान जटाजूटधारी व महान तेजस्वी रूपवाले हैं। यज्ञ में वे सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में आह्वान किये जाते हैं।[14] यहाँ रुद्र के साथ मरुत का संबंध भी दिखाई देता है।[15] एक स्तोत्र में मरुदगण को हृदय प्रदेश में आभूषण धारण किये नर्तनशील कहा है। यहाँ मरुत को नर्तन करते हुए माना गया है। यहाँ प्रत्यक्ष रूप से नृत्य का प्रदर्शन है जिसमें मरुत का सीधा संबंध नृत्य से जोड़ा गया है। यही कड़ी मरुदगण को भी नृत्य से जोड़ती है।[16]

यजुर्वेद में नृत्य, गीत व वाद्य कलायें, नटराज शिव की ही अभिव्यक्ति हैं और शिव कलाओं के स्रोत हैं, जिनका प्रारम्भिक रूप वैदिक काल से ही रुद्र के रूप में कलाओं सहित हमारे सम्मुख प्रदर्शित होता है। ये कलायें शिव से प्रारम्भ होकर मनुष्यों में प्रचलित हुई। इस युग में नृत्य के लिए सूत व गीत के लिए शैलूष संज्ञाओं का प्रयोग हुआ - नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं।[17] शैलूष नटों का एक भेद है। गाने बजाने का काम ये किया करते थे। सूत पौराणिक युग में ऐतिहासिक कथावाचक के रूप में दिखाई देते हैं। वर्तमान समय में कथक या कत्थक यही कार्य करते हैं[18] जो कि शास्त्रीय नृत्य की कत्थक शैली के जन्मदाता माने जाते हैं। यजुर्वेद में नृत्य के साधक वाद्य 'मृदंग', 'वीणा वादक' व 'वंशी वादक' तथा गणक 'तालधारी' का भी उल्लेख प्राप्त होता है। *'गणकमभिक्रोशकं तान्महसे वीणावादं पाणिध्नं तूणवध्वं नान्नृत्ताया नन्दाय तलवम्।'*[19] नृत्य के तालधारी जिसकी पुष्टि 'नट्टयनार' दक्षिण के नृत्याचार्यों से होती है, जो कि नृत्य का संचालन बोल बोलते हुए हाथ से ताल देकर नृत्य का निर्देश करते हैं। उसका आधार पूर्ण रूप से गणक में प्रदर्शित होता है, जो यजुर्वेद में उल्लिखित है। आज भी शास्त्रीय नृत्यों में भरतनाट्यम्, उड़ीसी, कथकली तथा मणिपुरी नृत्यों में आचार्य ही ताल का संचालन मंजीरे द्वारा ताल धारण कर करता है।

अथर्ववेद में नृत्य को प्रकृति के सादृश से बताते हुए गंधर्वो को मोर की भांति नाचते हुए गीतमय वाणियों वाला बताया गया है। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर नृत्य को प्रकृति से जोड़ते हुए नारियों की तरल गति को देखकर मंत्रकर्ता को वर्तुलाकार नृत्य करने वाली नर्तकियों के चपल पदक्षेप का भी स्मरण हो जाता है - *'तयोरहं परिनृत्यन्तोरिव न वि जानायापि*

यतरा पुरस्तात'[20] एक स्थान पर दुन्दुभि से संबोधन किया गया है।[21] जैसे अधिषण काल में पर्वत अपने लघु खण्डों को दबाता हुआ नाचता है वैसे ही दुन्दुभि भी नृत्य करती जाये।

वेदों में संगीत-वाद्यों के अन्तर्गत 'वाण' नाम के एक वाद्य का उल्लेख कई स्थानों पर हुआ है यथा - *'को वाणं को नृत्तों दधौ*[22] *धमंतो वाण'*[23] वैदिककालीन 'वाण' ही वीणा का जनक है। इसी वाद्य के आधार पर बाद में सारे तन्तु वाद्यों का निर्माण हुआ। वीणा के विषय में उस समय प्रचलित एक किंवदन्ती इस प्रकार है - 'वाक् देवी एक बार देवताओं को छोड़कर चली गयी। यद्यपि इसका कोई कारण वर्णित नहीं है तथापि माना जा सकता है कि वह देवताओं की किसी बात पर उनसे रुष्ट होकर उन्हें छोड़कर चली गई और वनस्पति, पेड़-पौधों में प्रवेश कर गई, ताकि देवताओं का उसके बिना आहुति (यज्ञों के अन्तर्गत आहुति एवं बली) कार्य सम्पन्न न हो सके। रुष्ट वाक् देवी को मनाकर वापस लाने हेतु देवताओं ने वनस्पति से बने हुए अर्थात लकड़ी से निर्मित संगीत वाद्यों (वीणा, तूणव, दुंदुभि) का वादन प्रारम्भ कर दिया। इन वाद्यों के माध्यम से वाक् देवी नाद रूप में व्यक्त हुई। तब से वीणा को वाक् देवी का साकार रूप माना जाने लगा।' वाग्वैदेवेभ्ये पाक्रामद्यज्ञातिष्ठमाना सा वनस्पतिन, प्राविशत् सैशावाग्वनस्पतिषु वदति या दुन्दुभौ या तूणवे या वीणायाम्।[24] वाणः शततन्तुर्भवति शतायु पुरुषः शतेन्द्रिय आयुष्येवेन्द्रिये प्रति तिष्ठन्ति।[25] अर्थात वाक देवी दुन्दुभि, तूणव, वीणा आदि वाद्यों द्वारा ध्वनित होती है। तंत्री वाद्यों में वाण का महत्वपूर्ण स्थान है। संगीत (वाद्य) का सम्बन्ध प्राचीन काल से ही देवी-देवताओं से रहा है। ऋग्वेद के ऐतरेय आरण्यक में दैवी तथा मानुषी वीणा का सुन्दर सामंजस्य उपस्थित किया गया है। *अथ खल्वियं दैवी वीणा भवति तदनुकृतिरसौ मानुषी वीणा भवति यथास्याः शिर एवमुष्याः शिरः यथाऽस्या उदरमेवममुष्या अम्मणम् यथाऽस्यै जिह्वैवमुमुष्यै वादनम् यथाऽस्यास्तंत्रय एवमुष्या अंग्रुलयः यथाऽस्याः स्वराः यथाऽस्या स्पर्षा एवमुष्या स्पर्शा यथा हौवेयं लोभशेन चर्मणाऽपिहिता भवत्येवमेवासौ लोमेशन चर्मणा विहिता। लोमशेन हस्मपुरा वीणा अपिदधति।*[26]

अतः निष्कर्ष रूप में हम पाते हैं कि भारतीय संगीत का प्राचीनतम रूप वेद में उपलब्ध होता है। वैदिक आर्य प्रकृति के अति निकट सम्पर्क में रहते थे। उनके अधिकांश देवता उनकी सहज जिज्ञासा एवं सरल स्वभाव के ही परिणाम हैं। वेद में आर्यों की प्राकृतिक शक्तियां धीरे-धीरे देवताओं का रूप ग्रहण करती हुई दिखलाई पड़ती हैं। वैदिक आर्य जिस प्राकृतिक वातावरण में रहते थे, जिन प्राकृतिक घटनाओं को देखते थे और जिन प्राकृतिक पदार्थों का उपयोग करते थे उन्हीं सबको वैदिक आर्यो ने अपना देवता स्वीकार किया। उन्हीं की स्तुति, वेद के सूक्तों में स्थान-स्थान पर उन्होंने की है। उनके द्वारा देखे गये प्राकृतिक तत्व सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, विद्युत, वर्षा आदि ही आगे चलकर सूर्य देवता, अग्नि देवता, मरुत देवता आदि बन गये। आगे चलकर देवताओं को भी उच्च शक्ति सम्पन्न मानवाकृत्ति के रूप में देखा जाने लगा। इन देवताओं के साथ संगीत का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यथा मरुत, शिव, रुद्र, उषस आदि संगीत का एक साधना है। संगीत एक तप है। संगीत माध्यम है परम तत्व को प्राप्त करने का जिसमें देवताओं का पूजन आध्यात्मिक, दर्शन, चिंतन मनन के साथ जीवन का लास्य (नर्तन) सब उन्मुक्त भाव से एक संतुलन के साथ देखने को मिलता है।

संदर्भ

1. Music when combined a pleasurable idea, as poetry, music without idea is simply music, the idea without the music, is prose from its very definitions; Aelen Poe; An anthropology of critical statements page 69। **2.** अमोऽहमस्मि सात्वं सा त्वमस्यमोऽहम। सामाहमस्मि ऋक्तवं छौरहं त्वं विवाहवहै सह रेतो

दधावहै। प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान विन्दावहै बहून। ते सन्तु जरदष्टयः स प्रियौरोचिष्णु सुमनस्यामानो। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शंतत्रणुयाम शरदः शतम्। - अथर्ववेद 14/2/71। **3.** छांदोग्यो. 2/22/1 : जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण 1/51/6, तैत्तिरीय संहिता 2/5/11। **4.** तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3/7 अनु.। **5.** कठोपनिषद् 1/1/25-26। **6.** वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ. 135, बलदेव उपाध्याय। **7.** छांदोग्य 2/22/1 : जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण 1/51, तैत्तिरीय संहिता 2/5/11। **8.** भारतीय संगीत का इतिहास - श्री परांजये, पृ. 90, पुष्पसूत्र के इस भाष्य पर स्वामी प्रज्ञानंद कहते हैं - एत्रैर्भावैश्च कोथुमाः from the above lines it is evident that different recessions (sakhas) of the Vedas used different numbers of note. Specially the Kauthama recession used seen notes in two particular games। **9.** उच्चैरूदातः नीचैरनुदातः समाहारः स्वरितः पाणिनी व्याकरण। **10.** तैत्तिरीय प्रतिशाख्य - 23/13/14। **11**. यजुर्वेद - 30/19। **12.** यजुर्वेद - 30/20। **13.** अधि पेशांसि वपतेनृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रे व वर्जहम्। ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न ब्रजं व्युषा आवर्तमः। ऋग्वेद, मण्डल 1, सूक्त-92, ऋचा-4। **14.** दिवोवराहमरूषं कापार्दिन त्वेषं रूप नमसानिह्यामेह (ऋग्वेद 1/1/1/114 स्रोत 5/5/पृ. 222)। इदं पित्रे मरुतामुच्यते यचः स्वादो स्वादीयो रुद्रायवर्धनम् (ऋग्वेद 1/1/1/114 स्रोत 5/5/पृ. 222-223)। उपते स्तोमान्पशुपा इवाकरं रास्वां पितर्मरूतां सुम्मनमस्मे (ऋग्वेद 1/1/1/114 स्रोत 5/5/पृ. 223-24)। स्थिरेभिरंगै पुरूरूप उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशेहिरण्येः। ईशा नादस्य भूवनस्य भूरेर्नवाऽयोष दुदासूर्यम्।।9।। (ऋग्वेद 1/2/7/33 स्रोत 5/5/पृ. 225-26)। **15.** को वो आनरोदिवश्वग्मश्च धूतयः यत्सीमन्त न धूनुथ।। ऋग्वेद 1/1/1/37 पृ. 91-92। **16.** मर्ताश्चिद्धो नृतवो रूकमवक्षंस उप भ्रातृ भ्रातृत्वमायति। अधिनोगातमरूतः सदा हिव आपित्वमस्ति निध्रुवि।।22।। ऋग्वेद 3/6/1/3/20 पृ. 1180। **17.** यजुर्वेद, पूर्व अ. 30/19, पृ. 473-74। **18**. वैदिक संस्कृति तथा सभ्यता - डॉ. मुंशीराम शर्मा, पृ. 311। **19.** यजुर्वेद पू. अ. 30 स्तोत्र 20, पृ. 477-78। **20.** अथर्ववेद-10/7/43। **21.** अंशूनिवग्रावाधिषवणे अप्रिगव्यं दुन्दुमेऽपि नृत्यवेदः - अथर्ववेद 5/20/10। **22.** अथर्ववेद - 10/7/27। **23.** अथर्ववेद - 1/58/10। **24.** तैत्तिरेय संहिता - 6/1/4। **25.** शततंत्री 7/8/9 तथा 7/5/9 तुलनार्थ द्र. कात्या श्रौ. सू. 13/33-34 **26.** ऐतरेय आरण्यक 3/25।

एसोसिएट प्रोफेसर
102 गौतम बुद्ध निवास
वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान-304022
मो.- 09887562951

- विश्वास उन शक्तियों में से एक है जो मनुष्य को जीवित रखता है। विश्वास का पूर्ण अभाव ही जीवन का अवसान है– **विलियम जेम्स**
- महत्व इस बात का नहीं है कि आप अपने बच्चों के लिए क्या छोड़कर जाते हैं, बल्कि महत्व तो इस बात का है कि आप उन्हें कैसा बनाकर जाते हैं– **अज्ञात**
- उत्साह अवसरों को खोज लेता है और ऊर्जा अवसरों का अधिकतम लाभ उठाती है – **एस. हस्किन**
- बारिश का परिणाम शरीर पर और उसके जरिए मन पर होता है। प्रार्थना का परिणाम हृदय के द्वारा आत्मा पर होता है – **विनोबा भावे**
- मानव के सभी गुणों में साहस पहला गुण है क्योंकि यह सभी गुणों की जिम्मेदारी लेता है– **चर्चिल**

राजस्थानी-राजपूत लघुचित्र शैलियों में कृष्ण-लीला चित्रांकन

डॉ. विकास चन्द्र

भारत में चित्रकला और हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में 15वीं शताब्दी का समय पुनरुत्थान का समय रहा है। इस शताब्दी में कला के विभिन्न अंगों यथा संगीत, वास्तु, नृत्य आदि की दिशा में सर्वत्र एक नई चेतना का स्फुरण हुआ। धर्म और साहित्य का भी अपूर्व विकास हुआ। इस समय संगीत की अभ्युन्नति के साथ-साथ रागमाला संबंधी चित्रों का निर्माण, भित्ति चित्रों के साथ-साथ लघु चित्रों का निर्माण, रीतिकालीन साहित्य के साथ-साथ छंदशास्त्र विषयक चित्रों की रचना और रामानुजीय भक्ति सम्प्रदाय के साथ-साथ कृष्ण लीलाओं के चित्रों का भी निर्माण हुआ। इस युग के संगीत, वास्तु, छंद और भक्ति विषयक सभी आरंभिक चित्रों पर अपभ्रंश शैली का प्रभाव है। किन्तु इस युग की विशिष्ट देन अपभ्रंश शैली के चित्र न होकर एक सर्वथा नवाविर्भूत राजपूत शैली अथवा राजस्थानी शैली का निर्माण था। बालकृष्ण संबंधी धार्मिक चित्रों के क्षेत्र में अपभ्रंश शैली का पूरा स्थान राजपूत शैली ने ले लिया था। जो पुरानी परम्परा चली आ रही थी, उसमें राजपूत शैली के चित्रकारों ने सर्वथा नये प्रयोग किए। राजपूत शैली का आंशिक निर्माण गुजरात और मेवाड़ के क्षेत्रों में 15वीं शताब्दी के लगभग हुआ।

राजस्थानी लघुचित्र शैली की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जिससे असली लघुचित्रों को पहचान लेने में विशेष कठिनाई नहीं होती। उदाहरणार्थ- 1. सादृश्य की उपेक्षा और भाव की प्रधानता। 2. विषय को रंगों की सीधीसादी रेखाओं से चित्रण करना और गतिविधि से उसका रूप खड़ा कर देना। 3. सरल, स्वाभाविक लोक चित्रण, यथार्थता दिखाने की इतनी बैचेनी न होना। 4. थोड़े से जोरदार रंगों से भारतीय वातावरण का सृजन कर देना। 5. दृष्टि सरिण (Prespective) को विषय (Subject) पर गालिब न होने देना बल्कि खुद उस पर गालिब रहना।[1]

साहित्य और कला की गति सदैव विकासोन्मुख रही है। उनके भावी परिवेश के सम्बन्ध में हम संभावनाएँ तो प्रकट कर सकते हैं, किन्तु उनके लिए न तो निश्चित सीमाएँ निर्धारित की जा सकती हैं और उनके वर्तमान स्वरूप को सामने रखकर न उनके सम्बन्ध में ऐसी मान्यताएँ ही निर्धारित कर सकते हैं, जो अंतिम कही जाएं। ठीक इसी प्रकार उसके विगत स्वरूप के सम्बन्ध में गवेषणारत विद्वानों द्वारा जो स्थापनाएँ स्थिर की गई हैं, वे हमारे अध्ययन के लिए पथ प्रदर्शन एवं प्रेरणा का कार्य तो अवश्य कर सकती हैं किन्तु अंतिम रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता। राजपूत अथवा राजस्थानी चित्रकला के संबंध में भी यह

सटीक है जिस पर अनेक विद्वानों ने मौलिक कार्य किया उनमें **आनंद कुमार स्वामी, बासिल ग्रे, ओ.सी. गांगुली और डॉ. हरमन गोएत्स** के नाम उल्लेखनीय हैं। राजस्थान की विभिन्न पूर्व रियासतों में चित्रांकन की अपनी-अपनी विशेषताएं हैं, अतः उनके नामों पर विभिन्न शैलियों का नामकरण हुआ, इनमें कृष्णलीला का अंकन प्रमुख विषय है।

मेवाड़ शैली में कृष्ण लीला

राजपूत लघुचित्र शैली की जो विभिन्न शाखाएँ आज हमारे समक्ष विद्यमान हैं उनमें मेवाड़ (चित्तौड़-चावण्ड-उदयपुर राज्य) शैली का अग्रगण्य स्थान माना गया है। मेवाड़ चित्रकला की प्राचीनतम उपलब्ध कृति **'रूपासनाचर्यम'** है, जिसका उल्लेख 'विजयवल्लभ सूरी' नामक ग्रन्थ में हुआ है। इसका लिपिकाल 1423 ई. है। मेवाड़ शैली में कृष्णाधारित चित्रण के प्रमाण मेवाड़ के विभिन्न स्थानों में प्राप्त होते हैं --

जिन विद्वानों ने मेवाड़ शैली के संबंध में लिखा उनमें आनंद कुमार स्वामी के पश्चात् डॉ. मोती चन्द्र के मतानुसार इस महान कलाथाती का वास्तविक अधिकारी उदयपुर सिद्ध होता है न कि नाथद्वारा। उनके अनुसार चित्तौड़ और **चावण्डा मेवाड़ लघुचित्र** कला के प्रमुख केन्द्र थे और नाथद्वारा में बने इस शैली के चित्र उस परम्परा का अर्वाचीन रूप कहे जा सकते हैं। आनंदकुमार स्वामी द्वारा **'कृष्ण द्वारा राधा की प्रतीक्षा'** नामक चित्र दक्षिण राजस्थानी या गुजरात शैली का तथा 16वीं शताब्दी से पहले का सिद्ध किया गया है परन्तु प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम में सुरक्षित **'गीतगोविन्द'** के चित्रों के आधार पर और तत्संबंधी दूसरी उपलब्ध सामग्री का अध्ययन करने पर उक्त चित्र की तिथि 17वीं शताब्दी के मध्य में निश्चित होती है तथा यह चित्र **उदयपुर** केन्द्र का सिद्ध होता है। इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि 17वीं शताब्दी के आरम्भ में भी, विरुद्ध राजनीतिक वातावरण के बावजूद भी मेवाड़ की चित्रकला ने अपना स्वतंत्र विकास किया।

वल्लभाचार्य के वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार के कारण कृष्णभक्ति का ही सर्वोपरि महत्व माना जाने लगा था और तत्कालीन चित्रकारी के समक्ष भागवत-पुराण ही अपनी कलाकृतियों के लिए प्रमुख विषय रह गया था। यही कारण है कि 17वीं शताब्दी के मध्य में 'भागवत पुराण' की बहुत सारी सचित्र प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं। **'भागवत'** की एक संपूर्ण सचित्र प्रति उदयपुर केन्द्र के कलाकार साहवादी द्वारा चित्रित उपलब्ध है (कार्ल खण्डालावाला मार्ग, वॉल्यून 4, संख्या-3 में प्रकाशित), यह प्रति **जोधपुर महाराज के संग्रह** में है और इसी प्रकार की एक प्रति **कोटा की लाइब्रेरी** में भी उपलब्ध है। **'भागवत'** के कुछ सचित्र पृष्ठ नेशनल म्यूजियम और दूसरे अनेक संग्रहालयों में भी देखने को मिलते हैं। इन सभी चित्रों में मेवाड़ शैली के सर्वोच्च स्वरूप के दर्शन होते हैं। इसी प्रसंग में रागमाला के चित्रों को भी नहीं भुलाया जा सकता है और इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण **नेशनल म्यूजियम** में सुरक्षित है। बीकानेर दरबार के संग्रह में सुरक्षित **'रसिकप्रिया'** की जिस प्रति को डॉ. गोएत्स ने (आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ बीकानेर) 1597 ई. के लगभग का बताया था और जिसे उन्होंने आम्बेर शैली का सिद्ध किया था उसके सबंध में प्रामाणिक रूप से सिद्ध हो चुका है कि 'रसिकप्रिया' की उक्त पाण्डुलिपी 16वीं शताब्दी के मध्य में निर्मित मेवाड़ शैली की थी।

राधाकृष्ण के प्रेम वर्णनों से सम्बद्ध कृष्णकाव्य **'गीतगोविन्द'** का भी उस समय प्रचलन था। गुजराती मिश्रित मारवाड़ी शैली में चित्रित 'गीतगोविन्द' के अनेक **चित्र प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम** में सुरक्षित हैं। जिनका समय 1650 ई. है। इसी प्रकार के कुछ चित्र नवलगढ़ के कुमार संग्रामसिंह के संग्रह में विद्यमान हैं, जो उक्त चित्रों के कुछ समय बाद ही रचे गए हैं।

जगत सिंह प्रथम के इस स्वर्णिम युग में

'सूरसागर' पर भी मेवाड़ शैली में चित्र बनाए गए। इस प्रकार के कुछ चित्र गोपी कृष्ण कानोडिया के संग्रह में हैं, जिनका निर्माण काल निश्चित रूप से 1650-52 ई. आंका गया है। वह युग कृष्ण भक्तिप्रधान वैष्णव धर्म का समर्थक युग था, अतः उसकी उन्नत स्थिति को समाज में बनाए रखने के उद्देश्य से अथवा उसके प्रभाव से, कृष्ण तथा गोपियों के सभी संबंधों के चित्र बनाए गए। इसके साथ-साथ **रागमाला के नायक-नायिकाओं** के चित्रों का निर्माण जारी रहा। 'भागवत' के आधर पर निर्मित 'कृष्ण का गोवर्धन धारण' और 'वनाग्नि' शीर्षक चित्रों का अंकन राजसिंह (1662-80 ई.) अथवा जयसिंह (1680-1998 ई.) के समय हुआ। इसी प्रकार कृष्ण का गोपियों से जमुना तट पर **केलि क्रीड़ा** आदि चित्र भी (17वीं शताब्दी के अंत का) मेवाड़ चित्रकला के उन्नत युग के सर्वश्रेष्ठ परिचायक हैं। मेवाड़ शैली की सर्वोच्च स्थिति 16वीं, 17वीं शताब्दी में बनी रही और यही समय भारतीय चित्रकला की अभ्युन्नति के लिए स्वर्णिम काल रहा।[2]

नाथद्वारा : वीर वसुंधरा मेवाड़ की राजधानी 'उदयपुर' से तीस मील दूर उत्तर दिशा में घने पहाड़ों के मध्य कला एवं संस्कृति का केन्द्र **नाथद्वारा** स्थित है। इसके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि इसमें प्रमुख आकर्षण के केन्द्र बिन्दु श्रीनाथ जी हैं। यूं तो वर्ष पर्यन्त हर समय हजारों यात्री यहाँ दर्शनार्थ आते रहते हैं किन्तु 'अन्नकूट' और 'कृष्ण जन्माष्टमी' के अवसर पर विशेष रूप से भक्त लोग यहाँ उपस्थित होते हैं। आराध्य देव दर्शन हेतु आए यात्रीगण को स्मृति चिरस्थायी रखने के उद्देश्य से श्रीनाथ जी के चित्र एवं अन्य तस्वीरें खरीद कर ले जाते हैं।

औरंगजेब की कट्टर भावना के कारण गोवर्धन (ब्रजमंडल) में जनता के साथ-साथ पूज्य प्रतिमाओं पर भी संकट आया। अत्याचार से रक्षार्थ तत्कालीन **गोस्वामी गोपीनाथ** जी ने उदयपुर के महाराणा राजसिंहजी से मेवाड़ में निवास की अनुमति चाही। मेवाड़ महाराणा ने क्षत्रियोचित आन रखते हुए स्वीकृति दी और साथ ही साथ उन्हें अपना गुरू भी स्वीकार किया। श्रीनाथ जी की प्रतिमा अपनी भक्त मण्डली एवं सेवकों सहित अनेक रजवाड़ों से होती हुई मेवाड़ में लाई गई तथा कुछ स्थान बदलने के पश्चात स्थायी रूप से नाथद्वारा के वर्तमान मंदिर में स्थापित की गई। ब्रजराज के साथ-साथ प्रस्थान किये भक्त चित्रकार भी थे जो यहाँ पहुँचने पर अपनी कला साधना में तत्परता से जुट गए। समय एवं परिस्थिति के प्रभाव से यहाँ की चित्र शैली दिन पर दिन पूर्णता की ओर अग्रसर होती रही। यहाँ की चित्रकला ने दर्शकों की ही नहीं वरन् आस-पास के चितेरों तक को आकर्षित किया। जयपुर, जोधपुर एवं जयपुर से जो लोग यहाँ पहुँचे उनमें 'जांगिड़ ब्राह्मड' एवं 'गौड़ ब्राह्मण' परिवार मुख्य थे। इन दोनों ने यहाँ की चित्रण विधि को पल्लवित व पुष्पित होने में अपना अभूतपूर्व योगदान दिया।

नाथद्वारा जैसे छोटे कस्बे में चित्रकला एक बड़े पैमाने पर पनपी और विकसित हुई। इसमें दो मुख्य कारण रहे प्रथम तो यह कि इस सम्प्रदाय में केवल हाथ-कलम के चित्रों से ही सेवा पूजा का विधान रहा तथा दूसरा यह कि यहाँ चितरे परस्पर सहयोग एवं प्रतिस्पर्धा से काम करने की टेव लिए हुए हैं। शुद्धाद्वैत पुष्टि मार्ग का मूल उद्देश्य कृष्ण कन्हैया को रिझाना और उनका गुण-गान करना ही रहा है। परिणामस्वरूप ही श्रीमद्भागवत के अनुरूप विविध कृष्ण लीलाओं को चित्रों में अंकित करने की प्रथा रही। इनमें **कृष्ण जन्म, ब्रज की बाललीला, गोचारण भोजन थाली, दैत्यों का संहार, गोवर्धन धारण, दानलीला, मानलीला, कालीयानाग वध एवं चीरहरण** आदि विषयों के अधिक चित्रों का निर्माण हुआ। भगवान की प्रतिमा के पीछे की दीवार को सजाने के लिए कपड़े पर गर्भगृह के आकार के अनुसार जो पर्दे बनाए जाते हैं उन्हें '**पिछवाईयाँ**' कहते हैं। पिछवाईयां नाथद्वारा चित्रशैली की मौलिक

देन है। ऐसी पिछवाईयां किसी अन्य शैली या कलम में इस रूप में देखने को नहीं मिलती हैं। ये बीस पच्चीस फीट लम्बी, चौड़ी या इससे भी अधिक बड़ी बनती हैं। पिछवाईयां अधिकतर श्रीनाथ जी के उत्सवों के महत्व को चित्रित करने या कृष्णलीला संबंधी किसी भी विषय को लेकर तैयार की जाती हैं। वल्लभ सम्प्रदाय के छोटे-बड़े सभी मंदिरों में उत्सवों के अनुरूप हाथ-कलम की पिछवाईयां धारण कराई जाती हैं। वर्तमान समय में भी समूचे भारत में नाथद्वारा के समान कहीं पर भी उत्तम सस्ती एवं सुन्दर पिछवाईयाँ चित्रित नहीं होती। कृष्णाधारित फ्रेस्को पेन्टिंग्ज़ के कतिपय उदाहरण भी यहाँ के प्राचीन स्थानों पर मिलते हैं। महुआ वाले 'अखोडा सुन्दर विलास' के बाग के दरवाजे पर, मोती महल प्रवेश द्वार तथा गोवर्धन कुण्ड की तिवारी आदि में भित्ति चित्र उपलब्ध हैं।[3]

नाथद्वारा की चित्रण शैली में भी नाथजी मूर्ति के स्वरूप चित्रण के अतिरिक्त **रागमाला, बारहमासा, रासलीला** आदि कृष्णलीला युक्त चित्रों की प्रधानता है। यहाँ के चित्रकारों के कुशल हाथों की रचना माधुरी और हृदय स्पर्शी भावानुभूति मर्मज्ञों को अलौकिक आनंद में उसी प्रकार से ले जाती है जैसे चैतन्य महाप्रभु ने बंगाल में कृष्ण भक्ति के अनूठे स्वर फूंक कर वहाँ के असंख्य भक्तों को भावविभोर कर दिया था। नाथद्वारा के कलाकारों ने अपनी प्रखर कल्पना एवं अनूठी प्रतिभा का परिचय देकर कला के लौकिक पक्ष के साथ अलौकिक पक्ष को भी बड़ी चतुराई से प्रस्तुत कर भक्तों के हृदय में उपासना की नींव को दृढ़ बनाया। इनके चित्रों में लाल, नीले रंगों में चांदी जैसे रंगों का विलक्षण प्रयोग किया गया।

उदयपुर में उत्तर की ओर 68 मील की दूरी पर मेवाड़ की सीमा से ही लगा **देवगढ़** ठिकाना स्थित है जिसकी स्थापना महाराणा जयसिंह के राज काल में 'रावत द्वारिका दास चूँडावत' ने सन् 1680 में की। यहाँ के रावत सोलहवें उमराव कहलाते थे, जिन्हें प्रारम्भ से ही चित्रकला में गहरी रुचि थी। संग्रामसिंह एवं महाराणा जगत सिंह द्वितीय के राज्यकाल में निर्मित मेवाड़ शैली के चित्रों के अनुरूप ही देवगढ़ में सन 1710-1720 ई. के मध्य भित्ति चित्र बने।[4]

मारवाड़ शैली में कृष्णलीला

बीकानेर के राजा रायसिंह (1571-1611 ई.) एवं उसके वंशजों को चित्र शाहंशाहों द्वारा मित्रतावश बीकानेर राज्य को भेंट स्वरूप दिए गए थे। राजा रायसिंह को चित्रों के संग्रह का शौक रहा उन्होंने जोधपुर, अम्बेर और उदयपुर आदि अनेक राज्यों से उत्तम श्रेणी के कुछ लघुचित्रों का अच्छा संग्रह किया था, जो अधिकतर **'भागवत'** और केशवदास की **'रसिकप्रिया'** से सम्बद्ध थे। अहमदनगर से रागमाला के कुछ उत्कृष्ट चित्र भी उन्होंने एकत्र कराये थे, जो विजयनगर के सुल्तानों द्वारा बनवाए गए थे। राजा रायसिंह के बाद राजा करनसिंह (1631-1652 ई.) के समय इस दूसरी श्रेणी के चित्रकारों ने बीकानेर में जहाँगीर और शाहजहाँ से प्रभावित सुंदर सुनहरे चित्रों का निर्माण किया। बीकानेर शैली के निर्माण में बादशाह औरंगजेब द्वारा निराश्रित चित्रकारों में शिल्पी रुक्नुद्दीन का नाम प्रमुख है। जिसने **भागवत** और **रसिकप्रिया** के सुंदर दृष्टान्त चित्र तैयार किए। इनके अध्ययन से राजपूत चित्रकला और विशेष रूप से बीकानेर शैली के महत्व का पता चलता है।

राजा अनूपसिंह (1674-98 ई.) के बाद राजा गजसिंह के समय (1785-87 ई.) बीकानेर शैली की परम्परा में कुछ बाधा उपस्थित हुई। राजा सूरत सिंह (1787-1828 ई.) और राजा रतनसिंह (1829-51 ई.) के समय बीकानेर में चित्रकला की अपेक्षा भवन निर्माण कला की विशेष उन्नति हुई। राजा गजसिंह ने राज महल को रंगवाया और उसके दरवाजों को कृष्णलोक संबंधी धार्मिक चित्रों से सज्जित करवाया। **राजा सूरतसिंह** ने सुंदर 'शीश महल' का निर्माण करवाया और 'अनूपमहल' को फिर से सजाया। धीरे-धीरे बीकानेर के शाही महलों को राम-

सीता, लक्ष्मण, उमा-महेश्वर, **राधा-कृष्ण** आदि के पौराणिक एवं धार्मिक चित्रों से अलंकृत किया गया।

बीकानेर शैली के चित्रों का प्रौढ़ रूप 'अनूपमहल' तथा 'फूलमहल' की सज्जा में, 'चन्द्रकला' तथा 'सुजानमहल' के दरवाजों पर चित्रकारी में और 'रागमाला' तथा 'बारहमासा' के दृष्टान्त चित्रों में दिखायी देता है। बीकानेर शैली के अधिकतर चित्रकार मुसलमान रहे, जिन्होंने प्रायः शुद्ध हिन्दू विषयों पर चित्र रचना करके अपने औदार्य तथा नैपुण्य का प्रमाण उपस्थित किया।[5]

किशनगढ़ शैली को प्रकाश में लाने का श्रेय विद्वान एरिकडिकिन्स और फैयाज अली को हैं।[6] किशनगढ़ शैली का प्रारंभ अथवा संरचना का कोई निश्चित समय स्थापित नहीं किया जा सकता फिर भी कई विद्वानों ने इस संदर्भ में संशोधकार्य किया है। डॉ. फैयाज अली ने किशनगढ़ शैली के जन्म को प्रतिपादित करने का भरसक प्रयास किया। उनके अनुसार किशनगढ़ में काली माता के मन्दिर के पास एक भवन में कुछ भित्ति चित्र हैं। उक्त मंदिर में एक छोटी पहाड़ी (रड़ी) पर स्थित है। इस छोटी पहाड़ी को आसन की रड़ी कहा जाता है। वहां लगभग 50 वर्ष पूर्व तक छतरी थी जिसमें राधाकृष्ण के भित्ति चित्र अंकित किये गये थे। डॉ. फैयाज अली ने उन भित्ति चित्रों के रेखाचित्र ट्रेस कर लिए थे। वे उस चित्रकारी को किशनसिंह के समय (1609-1619 ई.) या उसके ठीक पश्चात का मानते हैं।

महाराजा किशनसिंह पुष्टिमार्गीय थे। किशनगढ़ शैली की नींव रखने में महाराजा रूपसिंह का नाम स्मरण रखने योग्य है क्योंकि इस शैली के जन्म या मूल में वास्तविक श्रेय उन्हीं को रहा। किशनगढ़ शैली में दरबार व अन्य विषयों के साथ-साथ **वल्लम सम्प्रदाय के चित्रों** का चित्रांकन बहुतायत से हुआ। राजा रूपसिंह ने ही किशनगढ़ से लगभग 16 मील दूर रूपगढ़ बसाया था। वे एक भक्त हृदय विद्यानुरागी राजा थे, वल्लभ सम्प्रदाय में आस्था रखने के कारण राजा रूपसिंह भी राधाकृष्ण के मुगल स्वरूप के अराधक थे। इसी कारण संभवतः इनके समय में चित्रकारों ने राधाकृष्ण की लीलाओं पर अधिक चित्र बनाए। एक कारण यह भी रहा कि राधा-कृष्ण की लीलाओं को चित्रित करने में कलाकारों को विषयों की कमी कभी नहीं रही।

श्रीमद्भागवत, गीतगोविन्द, रुक्मणी मंगल तथा राज परिवार के सदस्यों को भी सेवा पूजा करते चित्रों में दर्शाया गया है। किशनगढ़ में श्रीनाथ जी (श्री कल्याणीराम जी) के मंदिर में **मंगला आरती, श्रृंगार, बालभोग, भोग संध्याआरती तथा शयन के दर्शनों के चित्र** भी उपलब्ध हुए हैं। राज परिवार के सदस्यों के चित्रों में विशेष रूप से नागरीदास व बहादुर सिंह को सेवा पूजा करते हुए चित्र उपलब्ध हुए हैं।

भारतवासियों के भावना प्रधान हृदयों ने राधा-कृष्णा की इन लीला विषयक चित्रों में वे वस्तुएँ देखी जो चक्षुओं का विषय नहीं, वास्तविकता में आदर्श के दर्शन करने की स्वाभाविक भावना उनमें प्रस्तुत थी जाग्रत हो गई। नागरीदास (1748-1764 ई.) के समय में बने चित्र इसी स्वच्छन्दता मूलक प्रवृत्ति के परिचायक हैं, उनके समय में किशनगढ़ के चित्रकारों द्वारा बनाए गए राधा-कृष्ण के चित्र आत्मा को परमात्मा से मिलने की और संकेत करते हैं। किशनगढ़ शैली के चित्रों में प्रेम और भक्ति के साथ-साथ रूप और सौन्दर्य का अद्भुत समन्वय है।[7] किशनगढ़ शैली के चित्रों का विषय प्रधानतः तो **राधा माधव की प्रेम लीला, प्रिया प्रीतम मिलन** तथा **मान चित्रण** ही रहा है, तथापि कविवर नागरीदास की प्रिया पासवान **'बणी-ठणी'** के रूप सौंदर्य को राधा की ही एक आदर्श छवि के रूप में प्रस्तुत किया गया है। किशनगढ़ के राजाओं तथा मुगल बादशाहों के चित्रों, गीतगोविन्द के पदों के चित्रांकन आदि में भी इस शैली के चित्रकारों ने अपनी कलम का जादू फेरा है।[8]

जोधपुर राठौड़ राजपूत राव जोधा ने अपने राज्य

जोधपुर की स्थापना की। यह प्रदेश पहले मरुभूमि तथा कालान्तर में 'मारवाड़' कहलाया। अरावली पर्वतमाला के पश्चिम में बसा मारवाड़ प्रदेश एक विशाल विषम भू भाग है। 15वीं शताब्दी से मारवाड़ प्रदेश में कलात्मक गतिविधि समुचित रूप से विकसित रही तथा बड़ी संख्या में यहाँ जैन तथा **वैष्णव साहित्यिक कृतियों** का चित्रण हुआ।

सन् 1707 व उसके बाद के बने चित्र संभवतः मारवाड़ शैली के सबसे अधिक सुन्दर तथा प्राणवान हैं। इन चित्रों के विषय भारतीय साहित्य के अनेक प्रसिद्ध काव्य जैसे कि **'रसिकप्रिया'** जयदेव कृत **'गीतगोविन्द'** इत्यादि हैं। कला के राजकीय मान को देखकर सामंतों ने भी कला को प्रोत्साहित किया जिससे केवल जोधपुर में ही नहीं वरन सारे मारवाड़ में इस युग में कुचलण, घाणेराव, नागौर, पाली, जालौर इत्यादि प्रमुख नगरों में चित्रशालाएँ बनी तथा सहस्रों संख्या में चित्र बनाए गए।

राजा सूरसिंह (1595-1620 ई.) के समय में चित्रित 'भागवत' का प्रमुख स्थान है जो 1610 में लिखित अनेक विशेषताओं से युक्त है। उदयसिंह के समय (सन् 1581) में जोधपुर का बादशाह अकबर से संपर्क हो गया था, जिसके परिणामस्वरूप चित्रों में वेशभूषा तथा स्थापत्य पर मुगलीया प्रभाव स्वाभाविक रूप से बढ़ता ही गया। उपर्युक्त भागवत में भी अर्जुन, कृष्ण आदि की वेशभूषा मुगलई है तो चेहरों की बनावट स्थानीय है। इसी प्रकार गोपियों की वेशभूषा मारवाड़ी है तो आभूषण मुगलई है। चित्रों के शीर्षक नागरी लिपि में गुजराती भाषा में दिए गए हैं। वाकई यह सचित्र ग्रंथ ऐतिहासिक होने के साथ ही समन्वय का अनोखा प्रतीक है। कृष्ण भक्ति आंदोलन के प्रसार में जोधपुर का महत्वपूर्ण हाथ रहा। **राजा जसवंत सिंह** अर्थात ब्रजराज ने उसे ब्रजभूमि ही बना दिया। श्री बालकृष्ण, श्री मदनमोहन, श्याम मनोहर आदि के मंदिर जोधपुर की जनता को भक्ति रस की धारा में रसमग्न करते रहे। वहीं कृष्ण चरित्र को आधार बनाकर उसके चित्रण की परम्परा ही चल पड़ी। 'बड़ौदा संग्रहालय' तथा 'कुमार संग्रामसिह संग्रहालय', जयपुर के सूरसागर पर आधारित चित्र इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, जिनमें काव्य के भावों को कलाकारों ने चतुराई से अंकित किया है। बड़ौदा संग्रहालय में ही प्राप्त 'रसिकप्रिया' का चित्रण भी इसी समय में हुआ। इन चित्रों की रेखाएँ भाव भंगिमाएँ तथा रंग संयोजन देखते ही बनता है।

वीर दुर्गादास के अपूर्व साहस के फलस्वरूप अजीतसिंह का शासन काल (1678) भी कम उल्लेखनीय नहीं है। इस समय के चित्रों के विषय रसिकप्रिया, गीतगोविन्द और राजदरबार, आखेट, उत्सव, जुलूस तथा राजाओं, सामंतों, ठिकानेदारों के व्यक्ति चित्र रहे। राजकीय संरक्षण के फलस्वरूप अभयसिंह तथा रामसिंह के शासनकाल में 'रागरागिनी', 'बारहमासा', 'लोकथाएँ' तथा 'व्यक्तिगत शबीहों' का चित्रण विशेष वेशभूषा में हुआ। **राजकीय संग्रहालय जोधुपर, मेहरानगढ़ संग्रहालय, प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान,** जोधपुर में इस समय के चित्र बहुलता से उपलब्ध होते हैं। इसी शैली में वेली कृष्ण रूक्मणी आदि के सचित्र ग्रंथ भी प्राप्त होते हैं।[10]

हाड़ौती शैली में कृष्ण लीला

कोटा-बूंदी : राजपूत शैली में एक समृद्ध एवं प्रभावशाली शाखा कोटा-बूंदी के नाम से प्रसिद्ध है। कोटा और बूंदी के सुदृढ़ राजमहलों में इस भव्य शैली के नमूने आज भी देखने को मिलते हैं। बूंदी में आज भी अनेक व्यक्तियों के पास यहाँ की शैली के चित्र व्यक्तिगत संग्रह में सुरक्षित हैं। इस शैली के चित्रों का सर्वोच्च संग्रह **विक्टोरिया ऐंड अल्बर्ट म्यूजियम लंदन** में सुरक्षित है, जो कि 1952 ई. में कर्नल टी.जी. गेयर, एण्डरसनी ने प्रदान किया था। ये चित्र कई तरह के हैं और ऐतिहासिक विश्लेषण से यह पता लगाया गया है कि कोटा-बूंदी शैली का जन्म 17वीं शताब्दी के अंत तक हो चुका था।

राजा रामसिंह (1686-1708 ई.) के समय में निर्मित कुछ चित्र प्रयाग संग्रहालय में भी सुरक्षित हैं, जो कि बूँदी कलम के भव्य शिल्प को प्रस्तुत करते हैं। राजा अर्जुन सिंह (1720-1724 ई.) के समय में भी बूंदी कलम की अच्छी लोकप्रियता रही। इसका अस्तित्व 17वीं तथा 19वीं शताब्दी तक बना रहा। बूंदी कलम का यह स्थानीय वैभव कुछ वर्षो बाद कोटा राज्य में उदित हुआ। कोटा कलम के मुख्य आश्रयदाता थे राजा उम्मेदसिंह। उनके समय (1771-1820 ई.) कोटा शैली की बड़ी उन्नति हुई।[11]

कोटा राज्य के महाराव भीमसिंह के समय (1719 ई.) में वल्लभ सम्प्रदाय को राजधर्म घोषित करने के साथ ही यह धर्म अथवा सम्प्रदाय जन मानस से भी बड़ी गहराई से जुड़ गया। वल्लभाचार्य के अनुसार मूर्ति के साथ-साथ उसके चित्र को 'चित्र जी' की भी पूजा का विधान है। मूर्ति की भांति चित्र में भी देवप्राण प्रतिष्ठा मानी जाने लगी। इस से चित्र का महत्व भी बहुत अधिक बढ़ गया व इसी आधार पर बड़े ईष्टदेव 'श्रीनाथ' जी की पूजा के विधान में चित्र बनाए जाने लगे। इसी परम्परा में राजाओं द्वारा राजमहलों तथा अभिजात्य वर्ग के द्वारा अपनी-अपनी हवेलियों में व्यापक पैमाने पर चित्रकारी कराई जाने लगी। लघुचित्रों के साथ-साथ भित्ति चित्रों का भी एक बड़े पैमाने पर चित्रण होने लगा। परिणाम यह हुआ कि किसी भी कक्ष की दीवार ऐसी नहीं रही जहाँ चित्रकारी न की गई हो। चित्रों के मूल विषय श्रीनाथ जी, ब्रजनाथ जी पूजा, कृष्ण जीवन लीलाएँ तथा विविध प्रकार के धार्मिक अवतार और उत्सवों का चित्रण हो गये। हाड़ौती में चित्र उपासना का प्रारंभ कोटा शैली में 1640 ई. में चित्रित **हस्तलिखित भागवत ग्रंथ** से माना जाता है जिसमें **कृष्ण लीलाओं** के साथ-साथ **ब्रज के उत्सव** आदि का चित्रण भी किया गया है।

कोटा शैली में चित्रित प्रमुख विषय **श्रीनाथजी, श्री ब्रजनाथ जी, श्री मथुरेश जी** तथा कृष्ण लीलाओं जैसे गोपियों के संग कृष्ण रासलीला, चीरहरण, कालिया दमन, गोवर्धन धारण, गजमोक्ष आदि चित्रित किए गए। कोटा में 1720-1800 ई. तक श्रीकृष्ण की **'चित्र उपासना'** हेतु चित्रण कार्य **'बड़ा महल', 'अर्जुन महल', 'लक्ष्मी भंडार की तिवारी'** और कँवरयदा की ड्योढी में क्रमशः महाराव अर्जुन सिंह, महाराव दुर्जन साल जी, महाराव अजीतसिंह जी, महाराव शत्रुसाल जी प्रथम, महाराव गुमान सिंह जी एवं महाराव उम्मेदसिंह जी प्रथम के संरक्षण में व्यापक रूप से करवाया गया।

बूंदी की चित्रण पद्धति में चित्र रूप में श्रीकृष्ण की उपासना कोटा से प्रेरित है। महाराव उम्मेदसिंह जी, श्री रंगनाथ जी के अनन्य उपासक थे। उन्होंने बूंदी के तारागढ़ में रंगनाथ जी मंदिर निर्माण के साथ ही **'रंगविलास'** नामक चित्रशाला का निर्माण भी करवाया। जिसके प्रमुख विषय कृष्णाधारित जैसे कि **चीरहरण, गोवर्धन धारण, हिण्डोला झूलते कृष्ण, महारास** आदि हैं। महाराव राजा उम्मेद सिंह (1740-1777 ई.) की धार्मिक चित्रशाला के निर्माण का प्रभाव बूंदी के सामंतों पर भी पड़ा। समकालीन इन्द्रगढ़ के सरदार ने **'सुपारी महल'** में चित्र उपासना हेतु कृष्ण लीलाओं का चित्रण करवाया जिनमें प्रमुख रथ में बैठे कृष्ण का चित्र। महाराव उम्मेद सिंह जी के समकालीन उनियारा ठिकाने ने ठिकानेदार ने भी **विष्णु मंदिर** में चित्र उपासना हेतु चित्रण करवाया, चित्रों के विषय **रासलीला, नृसिंह अवतार, कलिया दमन, समुद्र मंथन, गजेद्र मोक्ष** आदि हैं। उनियारा के कांच महल में भी दशहरा एवं कृष्ण संबंधी रासलीला का चित्रण किया गया है। महाराव राज विष्णु सिंह के समय **'छत्रमहल'** में भी चित्र उपासना हेतु चित्रण करवाया गया जिसमें श्रीनाथ जी, रासलीला एवं अन्य **कृष्ण लीलाएँ** प्रमुख हैं।

बारां के सबसे प्रसिद्ध 17वीं सदी के लोकप्रिय मंदिर पिण्डी स्वरूप अनंतशायी भगवान श्री विष्णु जी का **पूर्वाभिमुख मंदिर** व महाराव भीमसिंह जी के द्वारा बनाया गया **सांवलाजी का भव्य मंदिर** तथा

इन्हीं के काल में प्यारेराम जी के मठ की स्थापना से प्रमाणित है कि यहाँ भी वल्लभ मत का प्रचलन जन-जन तक पहुँच चुका था। झाला जालिम सिंह जी के समय **झालावाड़ गढ़** में चित्र उपासना हेतु श्रीनाथ जी एवं उनकी विभिन्न झाकियाँ, श्रीकृष्ण एवं उनकी लीलाओं का व्यापक चित्रण करवाया था।[12] दरबारी दृश्य और जुलूस, श्रीकृष्ण की जीवन लीला से सम्बन्धित चित्र, राजाओं की शबीहें प्रारंभ में कोटा शैली के कलाकारों के प्रिय विषय रहे। 'बारहमासा', 'राग- रागनी' तथा 'युद्ध निदर्शन' आदि विषय पर भी पर्याप्त चित्र बनाए गए।

श्रीकृष्ण की लीलाओं से लेकर कोटा शैली में जो चित्र बने हैं **पुष्टि-मार्गीय** भक्ति से ओत-प्रोत हैं। **श्रीकृष्ण के जन्म** के अवसर पर लहराती-गहराती हुई यमुना नदी और आसमान पर घुमड़ती घटा के भयावह वातावरण के मध्य नंदजी का श्रीकृष्ण को लेकर गोकुल पहुँचाना। दशावतार की झांकियों के साथ श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं के प्रेरक दृश्य, तिलक और टोपी लगाए ग्वाल-बालों की **'गोचारण'** एवं अन्य क्रीड़ाओं तथा **'माखन लीला'** आदि का चित्रांकन कोटा के लघुचित्रों में अत्यंत आकर्षक हुआ है। **भ्रमरगीत गाती हुई गोपियाँ**, उद्धव द्वारा उन्हें दिया जा रहा ज्ञानोपदेश, **श्रीकृष्ण तथा बलराम का मधुरा गमन** आदि विषयों का भी कोटा शैली के चित्रों में आकर्षक अंकन हुआ है। कोटा शैली में पुष्टिमार्गीय कथा प्रसंगों को अधिकांशतः चित्रकार रघुनाथ तथा गोविन्द ने चित्र रूप में उजागर किया है। साथ ही उन्होंने वल्लभ स्वामी तथा आचार्यों के जीवन प्रसंगों की चित्रावलियाँ, **गोवर्धन पूजा, अन्नकूट** आदि के दृश्यांकन करके भी अविरल रस की सुष्टि की है। कोटा के राव राजा भीमसिंह चित्रकला के अच्छे प्रोत्साहनकर्ता सिद्ध हुए। इनके समय में महाप्रभु श्रीकृष्ण का यशोगान अपनी चित्र रचनाओं में अनेक गोसाई कलाकारों ने किया।

बूंदी में भी वल्लभ सम्प्रदाय की प्रधानता रही। यहाँ के राजाओं ने वल्लभाय भक्ति मार्ग को अपनाया। जिसके फलस्वरूप यहाँ की चित्रकला में वह उत्कृष्टता आई जो राजस्थान में अन्यत्र नहीं देखी जाती। भक्त राजाओं ने कृष्ण रास की लीलाओं को देखने में अपनी आत्मा का कल्याण समझना ही उक्त धर्म की उपासना विधि का एक अंग माना। भगवान की लीलाओं के चिंतन का यह बहुत ही सरल मार्ग है। इसमें मन को अरुचि भी नहीं होती।[13]

कोटा चित्र वैभव केवल राज्य के शासकों तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि शासकों के साथ रियासत के दीवानों, मंदिरों तथा जन सामान्य तक फैला हुआ दिखाई देता है। यहाँ राजमहल का निर्माण उम्मेदसिंह प्रथम (1695-1707 ई.) के समय में हुआ जिसमें सुसज्जित चित्रों के विषयों में **दरबार, कृष्ण लीला में पूतना वध, कृष्ण झूले में कृष्ण राधा व कृष्ण** तथा **गोपियाँ** आदि प्रमुख रहे। **'बड़ा महल'** जो राव माधोसिंह द्वारा बनवाया गया में श्रीनाथ जी के मंदिर का दृश्य, राधाकृष्ण, गाय, श्रीनाथ जी के चित्र प्राप्त होते हैं।

पुराना कोटा शहर एक विशाल परकोटे से बंधा हुआ है। शहर में प्रवेश करने के अनेक द्वार हैं। यहाँ के चित्रों के विषय मुख्यतः **'कृष्ण लीला'** तथा **'आखेट'** हैं। कोटा के 'नायक-नायिका' विषय-वस्तु वाले चित्रों का आधार **सूरदास व जयदेव की रचनाएं सूरसागर** और **गीतगोविन्द** हैं। **बिहारी सतसई** की पृष्ठभूमि में उत्प्रेक्षा अलंकार को चित्रों में देखा जा सकता है। चित्रों में नायक नायिकाओं को कृष्ण तथा राधा का रूप **छत्र महल** में 'राधाकृष्ण', 'रासलीला', बड़े महाराज के महल में 'कृष्ण लीलाएँ', भट्ट जी महाराज की हवेली में 'चीर हरण', इन्द्रगढ़ में **भगवान गणेश** को **कृष्ण का रथ हांकते हुए सारथी** रूप में दर्शाया है जो अपने आप में अनोखा है। करवर के महल में कृष्ण लीलाओं में रासलीला तथा कृष्ण सबंधी बाल लीलाओं का चित्रण आदि उदाहरण बूँदी शैली में कृष्णाधारित चित्र

कार्य की प्रचुरता की और संकेत करते हैं।

कृष्ण रूप श्रीनाथ जी की उपासना करते भक्त जनों का चित्रण संपूर्ण हाड़ौती क्षेत्र की कला को कृष्णमय रूप प्रदान करता है।[14]

ढूँढाड़ शैली में कृष्ण लीला :

इस उपशैली का उद्‌गम क्षेत्र आमेर (बाद में जयपुर) राज्य रहा है। आमेर राजमहल के भित्ति चित्र मुख्यतः धार्मिक एवं पौराणिक विषयों पर आधारित हैं। वैष्णव धर्म को सर्वप्रमुख मान्यता यहाँ के चित्रों में दी गई है। आमेर में मिर्जा राजा जयसिंह (1621-1667 ई.) के समय में आमेर शैली में नये विकास तत्वों का समावेश हुआ और पुष्ट पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ। इस समय अनेक लघुचित्रों का एवं सचित्र ग्रंथों का निर्माण हुआ जिनमें 1639 में चित्रित **'रसिकप्रिया'** एवं **'रूक्मणी वेली'**, सचित्र ग्रंथ हमें उपलब्ध होते हैं। शृंगार रस से प्रेरित रसिकप्रिया का निर्माण राजा जयसिंह ने अपनी रानी चन्द्रावती के लिए करवाया था। यह सचित्र ग्रंथ महाराजा सवाई मानसिंह संग्रहालय में संग्रहित है। इन सचित्र ग्रंथों में अलंकरण एवं कृष्ण एवं गोपियों के युगल चित्रण लोक शैली से प्रेरित होकर निर्मित किए गए।

महाराजा सवाई जयसिंह (1699-1743 ई.) के समय में एक महत्वपूर्ण कृति ***'सरस रस'*** सचित्र ग्रंथ की रचना 1737 ई. में ब्रजभाषा में हुई। इसमें चित्रित चित्रों की विषय वस्तु कृष्ण-कथानक पर आधारित है। यह ग्रंथ कलात्मक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। स्वर्ण पृष्ठभूमि में इस ग्रंथ को लिखा गया है। इस ग्रंथ का उत्तम चित्र कृष्ण का गोपियों के साथ होली खेलने में निमग्न रहना है।[15] सवाई जयसिंह द्वितीय (1692-99 ई.) के समय में चित्रित छोटी परन्तु आकर्षक **रागमाला शृंखला** बड़ौदा स्टेट संग्रहालय में देखी जा सकती है। भारतीय कार्यालय में स्थित **'चीरहरण'** नामक लघु चित्र भी इसी समय की शैली का उदाहरण है। **'रासमण्डल'** तथा **'गोवर्धन धारण'** नामक दो अत्यत सुन्दर तथा उत्तम चित्रकारी के नमूने इस जयपुर चित्र शैली के सर्वोत्तम उदाहरणों में गिने जाते हैं। माना जात है कि वे चित्र महाराजा प्रताप सिंह के शासन काल में चित्रित किए गए थे जिनका भारत की चित्र-कला के प्रसिद्ध चित्रों में उल्लेख मिलता है। जयपुर शैली में इस समय **'बिहारी सतसई'** तथा अन्य कई साहित्यिक रचनाओं पर आधारित चित्रांकन किया गया जिनमें मुख्य रूप से **कृष्ण-राधा** व **रासलीला** आदि को चित्रित किया गया है। इसके अतिरिक्ति नायक-नायिका, नायिका भेद, भागवत आदि तथा ऋतु आधारित चित्रण में भी कृष्ण प्रसंग उल्लेखनीय है। महाराजा प्रताप सिंह के समय में विशाल आकार में भी कृष्ण आधारित चित्रण किया गया जिसमें 10 फीट लम्बाई व 6 फीट चौड़ाई के फलक पर राधाकृष्ण की नृत्य मुद्रा में चित्रित एक चित्राकृति मुख्य है। यह जयपुर के बड़े फलक संग्रह में से एक है।[18]

इस तरह राजस्थानी चित्रकला की प्रत्येक शैली श्रीकृष्ण के लीला स्वरूप को अपनी-अपनी मौलिक तूलिका द्वारा चित्रित करती है। हालांकि उनके चित्रण-विषय में श्रीकृष्ण का लीलाधारी रूप सर्वथा एक ही है। सभी शैलियों में मुख्यतः भागवत पुराण, बिहारी सतसई, नायक-नायिका रूप आदि में श्रीकृष्ण की छवि को अवश्य प्रमुख स्थान दिया गया है।

सन्दर्भ

1. सम्मेलन पत्रिका : पं. ब्रजमोहन व्यास द्वारा लिखित लेख 'राजस्थानी चित्र शैली', संपादक-विभूति मिश्र, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, जनवरी-मार्च, 2013 पृ.सं. 123-125। **2.** वाचस्पति गैरोला : भारतीय चित्रकला, मित्र प्रकाशन प्रा. लि. इलाहाबाद, संस्करण--1963, पृ.सं. 153-154, 157-160। **3.** सं. प्रेमचन्द्र गोस्वामी : राजस्थान की लघुचित्र शैलियाँ (प्रथम खण्ड), श्री गोवर्धन लाल जोशी द्वारा लिखित लेख--नाथद्वारा शैली व भारतीय चित्रकला का इतिहास, पंचशील प्रकाशन, जयपुर संस्करण--1999, पृ.सं. 22-28। **4.** डॉ. रीता प्रताप : भारतीय चित्रकला व मूर्तिकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर

2009, पृ.सं. 187। **5.** वाचस्पति गैरोला : भारतीय चित्रकला, मित्र प्रकाशन प्रा. लि. इलाहाबाद, संस्करण-1963, पृ.सं. 162। **6.** सं. डॉ. पेमाराम : राजस्थान में धर्म, सम्प्रदाय व आस्थायें, इतिहास विभाग वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान, प्रथम संस्करण-- 2004 पृ.सं 258-262। **7.** डॉ. अभिलाषा गोयल : किशनगढ़ चित्रकला एक विवेचनात्मक अध्ययन, नवजीवन पब्लिकेशन्स निवाई, संस्करण--2006, पृ. सं. 181-184। **8.** सं. गोस्वामी प्रेमचन्द्र : राजस्थान की लघुचित्र शैलियाँ (प्रथम खण्ड), श्री गोवर्धन लाल जोशी द्वारा लिखित लेख-- नाथद्वारा शैली, भारतीय चित्रकला का इतिहास, पंचशील प्रकाशन, जयपुर संस्करण--1999, पृ.सं. 31। **9.** सं. गोस्वामी प्रेमचन्द्र : राजस्थान की लघुचित्र शैलियाँ, (प्रथम खण्ड), श्री सुंदर मोहन स्वरूप भटनागर द्वारा लिखा गया लेख, मारवाड़ अथवा जोधपुर शैली, पंचशील प्रकाशन, जयपुर संस्करण-1999, पृ.सं. 46-50। **10.** डॉ. जयसिंह नीरज : राजस्थानी चित्रकला, भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर 2009, पृ.सं. 38-40। **11.** गैरोला वाचस्पति : भारतीय चित्रकला, मित्र प्रकाशन प्रा. लि. इलाहाबाद संस्करण--1963, पृ.सं. 264। **12.** सं. डॉ. पेमाराम : राजस्थान के भित्ति चित्र, डॉ. श्रीमति शशि अरोड़ा द्वारा लिखित लेख-- "हाड़ौती संभाग की धार्मिक सांस्कृतिक विरासत", पश्चिमी क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, उदयपुर, संस्करण--2005 पृ.सं. 243-245। **13.** सं. गोस्वामी प्रेमचन्द्र : राजस्थान की लघुचित्र शैलियाँ, रामचरण शर्मा व्याकुल द्वारा लिखित लेख, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, संस्करण--1999, पृ.सं. 63-65। 14. वर्मा डॉ. बद्रीनारायण : कोटा भिति चित्रांकन परम्परा, राधा पब्लिकेशन्स, दिल्ली, संस्करण--1989 पृ.सं. 33-65। 15. शर्मा डॉ. गीता : 'आमेर (स्थापत्य एवं चित्रकला), राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, संस्करण--2011 पृ.सं. 86-93। **16.** Sharma, Dr. Sita : Krishna Leela Theme in Rajasthani Miniatures, Pragati Prakashan, Meerut, 1987 Pg. 54-56।

(सह-लेखनः शिवांगी दाधीच, शोधार्थी)
विजुअल आर्ट विभाग
वनस्थली विद्यापीठ
राजस्थान-304022
ई.मेल- chandraart1983@gmail.com

●

- युवावस्था आवेशमय होती है, क्रोध से आग हो जाती है तो करुणा से पानी भी हो जाती है। **प्रेमचन्द**
- व्यर्थ बोलने की अपेक्षा मौन रहना अच्छा है। **स्वामी विवेकानन्द**
- आदर्शविहीन मनुष्य वैसा ही है जैसे सागर में बिना नाविक के तैरती नाव। **महात्मा गांधी**
- बुरी आदत को बदलना है तो नई आदत के निर्माण के लिए विकल्प की खोज करो। **आचार्य महाप्रज्ञ**
- कर्त्तव्य एक अत्यन्त व्यक्तिगत मामला है, इसमें कुछ करने के लिए दूसरों के आह्वान की आवश्यकता नहीं, कुछ कर डालने की आवश्यकता का बोध होता है। **मदर टेरेसा**

गीताप्रेस गोरखपुर का लीला चित्र मंदिर

डॉ. रेनू शाही

भारतवर्ष अनेक सम्प्रदायों एवं धर्मों का देश है जिसमें हिन्दू धर्म के अतिरिक्त कई अन्य धर्मों ने भी यहाँ पर विस्तार पाया है। यहाँ सभी धर्मों को समान रूप से प्रोत्साहन एवं संरक्षण मिलता रहा। यह भी कहा जा सकता है कि भारत वर्ष विविध संस्कृतियों एवं कलाओं का जन्मदाता एवं संरक्षक भी है। **कश्मीर** से लेकर **कन्याकुमारी** एवं **"सौराष्ट्र"** (गुजरात) से लेकर **पश्चिमी-बंगाल** तक भारत देश का कोना-कोना कला-संस्कृति एवं रचनात्मक विविधताओं से भरा हुआ है। सम्भवतः यही कारण है कि पाश्चात्य संस्कृति के लोग भी यहाँ की कला और संस्कृति से सदैव प्रभावित होते रहे। इस विशाल भारतवर्ष के एक राज्य उत्तरप्रदेश में **'गोरखपुर'** नामक नगर है जिसे **'गोरखनगरी'** के नाम से भी जाना जाता है, इसका यह नाम गोरखनाथ मन्दिर के प्रमुख देवता बाबा गोरखनाथ जी के नाम पर पड़ा है। यहाँ पर इस मन्दिर का विशेष महत्व है। यह मन्दिर एक 'मठ' भी है जो **नाथ-सम्प्रदाय** का होते हुए भी सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों के लोगों को अपनी उदार भावना से बाँधे हुए है। यहाँ पर गोरखनाथ जी के अतिरिक्त लगभग सभी प्रमुख देवी-देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित हैं। मन्दिर के अन्य दर्शनीय स्थलों में श्री 'अखण्डधूना', 'पर्वतासीन भगवान शिव', 'श्रीयज्ञ शाला', 'पवित्र मानसरोवर', 'साधना भवन', 'श्री गोरखनाथ मठ', 'योग प्रशिक्षण केन्द्र', 'महन्त दिग्विजयनाथ स्मृति भवन' के भीतरी भाग में प्रदर्शित मूर्तियाँ एवं भित्तिचित्र (जो अनेक महापुरुषों, विरांगनाओं तथा देवी-देवताओं के हैं), वृद्धाश्रम, मन्दिर का मुख्यद्वार, सन्तनिवास के अतिरिक्त विशेष रूप से **पाण्डु पुत्र महाबली श्री भीमसेन** की विश्रामरत विशालकाय मूर्ति दर्शनीय हैं। धार्मिक आधार पर मान्यता है कि जब **महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया था** तो उस समय यज्ञ में भाग लेने के लिए योगेश्वर गोरखनाथ जी को आमन्त्रण देने हेतु श्री भीमसेन यहाँ पधारे थे, श्री भीमसेन जब यहाँ पहुँचे तो उस समय गोरखनाथ जी समाधि में लीन थे अतः श्री भीमसेन को गोरखनाथ जी की प्रतीक्षा करनी पड़ी थी। कहते हैं कि श्री भीमसेन के शरीर के भार से वहाँ पृथ्वी का एक अंश धंस गया।[1] तभी से यहाँ एक **कुण्ड** निर्मित हो गया और इसे पवित्र माना जाने लगा। इन्हीं मान्यताओं एवं गोरखनाथ जी के आध्यात्मिक व्यक्तित्व के कारण गोरखपुर का आध्यात्मिक एवं धार्मिक महत्व है।

गोरखपुर में विश्वविख्यात संस्थान है गीताप्रेस- सम्भवतः धार्मिक महत्व एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के कारण ही गोरखपुर का वातावरण धार्मिक ग्रन्थों के लिए उचित बन

पड़ा है अतः विश्व प्रसिद्ध **'गीताप्रेस'** की स्थापना **परम् श्रद्धेय श्री जयदयाल जी गोयन्दका (सेठ जी)** ने विक्रम संवत् 1980 (सन् 1923 के मई महीने) में यहाँ की थी।[2] तत्कालीन समय में गीताप्रेस विश्वस्तर पर अपनी पहचान बनाये हुए है एवं भारतीय धार्मिक ग्रन्थों का सबसे बड़ा प्रकाशन है। आरम्भ से ही गीताप्रेस एक धार्मिक संस्था के रूप में प्रतिष्ठित भी रहा है। गीताप्रेस का संचालन गीताप्रेस संस्था के ट्रस्ट बोर्ड (गोविन्द भवन कार्यालय) कोलकत्ता के नियन्त्रण में होता है। इस संस्था का मुख्य कार्य कम से कम मूल्य पर ग्रन्थों को छापकर धार्मिक साहित्य का प्रचार-प्रसार करना है। अब तक यहाँ से लगभग 53 करोड़ 5 लाख पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।[3] इन ग्रन्थों में **वाल्मीकि रामायण, महाभारत, श्रीमद्भगवत गीता**, **श्री रामचरितमानस** एवं अन्य **तुलसी साहित्य, सभी पुराण** एवं **उपनिषद्** आदि के अतिरिक्त महिलाओं एवं बालकों के लिए उपयोगी पुस्तकें, भक्तों के चरित्र, चालीसा एवं भजनमाला की पुस्तकें सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ से कल्याण, युग कल्याण एवं कल्याणकल्पतरु नामक तीन मासिक पत्रिकाएं प्रकाशित होती है जिनमें कल्याण तथा युग कल्याण हिन्दी एवं कल्याणकल्पतरु अंग्रेजी में प्रकाशित किये जाते हैं। इन पत्रिकाओं, पुस्तकों के सम्पादन प्रकाशन का कार्य परमश्रद्धेय श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार जी (भाई जी) ने आजीवन किया। इस शृंखला में कई श्रद्धेय संत, विद्वान जुड़े हुए रहे और जुड़े हुए हैं। पुस्तकें हिन्दी, अंग्रेजी के साथ-साथ नेपाली तथा कई अन्य भारतीय भाषाओं में प्रकाशित की जाती हैं। सब मिलाकर 18 भाषाओं में पुस्तकें उपलब्ध हैं। अतः यह कहना असत्य नहीं होगा कि भारतीय संस्कृति को विस्तार देने का कार्य गीताप्रेस गोरखपुर के द्वारा सम्भव हो पा रहा है। जो धार्मिक ग्रन्थ यहाँ से प्रकाशित किये जाते हैं वे सचित्र होते हैं, इनके चित्र इतने स्पष्ट होते हैं कि कई बार कथाएँ चित्रों के ही माध्यम से स्पष्ट हो जाती हैं। यह भी कहना अनुचित नहीं होगा कि **कथा-चित्रण** का यहाँ सबसे बड़ा संग्रह है। इनमें मुख्यतः धार्मिक कथाओं तथा श्रीराम एवं श्रीकृष्ण के जीवन चरित्र का क्रमवार अंकन हुआ है।[4] चित्र भी बहुत ही उच्चकोटि के हैं। राम और कृष्ण के अतिरिक्त भगवान विष्णु, भगवान शंकर तथा दुर्गा, काली एवं सरस्वती माता का भी चित्रांकन हुआ है। यहाँ संग्रहित या प्रदर्शित कुल चित्रों की संख्या 684 है।

गीताप्रेस से जो **कल्याण** नामक लोक-हित पत्रिका निकलती है उसके लिए चित्रकारों द्वारा चित्रांकन किया जाता है। यहाँ के चित्रकार पुस्तकों एवं ग्रन्थों के विषयानुसार चित्र अंकित करते हैं। प्रदर्शित चित्रों के अध्ययन से यहाँ के कुछ प्रमुख चित्रकारों के नाम मिले हैं जो इस प्रकार हैं :- जगन्नाथ प्रसाद गुप्त, बी. के. मित्रा, जगन्नाथ गोरखपुरी, जे. एन. प्रसाद, देवलालीकर, बृजेन्द्र, रामप्रसाद, भगवान, प्रेम नरेन्द्र, घासीराम शर्मा, स्वामीनाथ आदि। इन्होंने श्रीरामलीला एवं श्रीकृष्णलीला के विषय पर यथार्थ एवं अद्‌भुत चित्रांकन किये हैं। वर्तमान समय में यहाँ पर श्री गोपाल प्रसाद साधक नामक चित्रकार कला साधना में रत हैं और बहुत सी बाल उपयोगी पुस्तकों में भी चित्रांकन कर चुके हैं।

लीला-चित्र मन्दिर

वस्तुतः 'लीला-चित्र मन्दिर' एक कला वीथिका है परन्तु इसे 'लीला-चित्र मन्दिर' नाम देने के पीछे महत्वपूर्ण कारण है वीथिकाएँ। भारतवर्ष में अनेक कला भवन हैं और उनमें बहुमूल्य प्राचीन तथा अर्वाचीन दृश्यात्मक चित्रों के संग्रह अधिक हैं और ये उच्चकोटि के भी हैं लेकिन धार्मिक या आध्यात्मिक दृष्टि नहीं है बल्कि कलात्मक अधिक है, इसके विपरीत 'लीला-चित्र मन्दिर' में भगवान की लीलाओं के दर्शन होते हैं। तात्पर्य यह है कि यहाँ कला की प्रधानता के साथ-साथ धार्मिक महत्व भी विद्यमान है। भारत की अन्य वीथिकाओं में ललित कलाओं के दर्शन होते हैं परन्तु आध्यात्मिक तथा धार्मिक चरित्रों एवं ध्यान स्वरूपों का दर्शन यहाँ सम्भव है। गीताप्रेस गोरखपुर के 'लीला-चित्र मन्दिर' में प्रदर्शित चित्रों के दर्शन से हमें श्रीराम, श्रीकृष्ण के जीवन चरित्र के

साथ-साथ प्राचीन भारतीय संस्कृति और महामनस्वी पूर्वपुरुषों के पवित्र चरित्रों का स्मरण होता है एवं उनकी भक्ति तथा उपासना करने का मन होता है। यहाँ चित्रों का निर्माण तथा संग्रह इसी दृष्टि से किया जाता है कि उन्हें देखने वाले अपने-अपने भावानुसार अपने इष्ट देवता के स्वरूप को ध्यान कर प्राचीन भारतीय संस्कृति व आर्य संस्कृति तथा पूर्वजों के प्रति श्रद्धा में लीन हो सके, इनका उद्देश्य भगवत भक्ति तथा मानवजीवन की सफलता के लिए अग्रसर करना है। दिनांक 13 दिसम्बर को यहाँ प्रतिवर्ष **गीता-जयन्ती** मनायी जाती है, मान्यता है कि आज के ही दिन **श्रीकृष्ण** ने **अर्जुन** को गीता का उपदेश दिया था। यह कार्यक्रम एक सप्ताह तक चलता है।

'लीला-चित्र मन्दिर' में हिन्दू देवी-देवताओं के चित्र तो हैं ही जो सभी प्रकार के आस्तिक सम्प्रदायों के लिए उपयोगी सिद्ध हैं। इस चित्र मन्दिर में **भगवान बुद्ध, भगवान महावीर, प्रभु ईसा मसीह, संत जरथुस्त्र** आदि के भी चित्र हैं जो विश्व के सभी धर्मों के लोगों के लिए अपने-अपने विश्वास के अनुसार प्रिय हैं। इन सभी विशेषताओं के कारण ही यह 'लीला-चित्र मन्दिर' सभी कला भक्तों के लिए सर्वथा दर्शनीय है। यही कारण है कि इस कला वीथिका को 'लीला-चित्र मन्दिर' के नाम से सम्बोधित किया जाता है, "इस प्रकार का यह चित्र मन्दिर या कला-वीथिका पूरे भारतवर्ष में एक ही है।"[5]

लीला-चित्र मन्दिर में प्रदर्शित प्राचीन लघुचित्र

इस कला वीथिका की अन्य विशेषता मेवाड़ शैली के लघुचित्र है,[6] जिनकी संख्या लगभग 92 है।[7] ये चित्र श्रीकृष्णलीला से सम्बन्धित हैं, चित्रों में सम्भवतः खनिज रंगों का प्रयोग हुआ है, क्योंकि कुछ चित्रों के रंग उखड़े से प्रतीत होते हैं। इन चित्रों के बारे में चर्चा करने पर गीताप्रेस गोरखपुर के तत्कालीन उत्पादन व्यवस्थापक (प्रोडक्शन मैनेजर) डॉ. लालमणि तिवारी जी ने इन्हें दो से ढाई सौ वर्ष पुराने बताए हैं। इन लघु चित्रों के विषय में चर्चा करने पर पता चला कि इन चित्रों को उपहार स्वरूप राजस्थान के किसी उदार राजा ने यहाँ के तत्कालीन संरक्षक परमश्रद्धेय श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार (भाई जी) को भेंट किया था।[8] इन चित्रों को गीताप्रेस के लीलाचित्र मन्दिर में अन्य चित्रों के साथ ही सन् 1955 में प्रदर्शित किया गया था।[9] 19 अप्रैल को भारत के तत्कालीन एवं प्रथम राष्ट्रपति महामहिम भारतरत्न डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जी ने (हिन्दू पंचांग के अनुसार वैशाख शुक्ल 8 विक्रम सं. 2012) प्रातःकाल में इस चित्र मन्दिर का अपने कर कमलों द्वारा शुभारम्भ किया था। उसी शुभ दिन से ये चित्र आम जनता के समक्ष दर्शन हेतु प्रस्तुत हुए। मेवाड़ शैली के इन लघु चित्रों में श्रीकृष्ण लीला के जन्म के पहले से लेकर उनके जन्म, बाल लीलाओं और रास-लीला आदि के साथ कई महत्वपूर्ण प्रसंग चित्रित हैं। इन लघु चित्रों को बहुत सुन्दर फ्रेमों में सुरक्षित रखा गया है जो काँच एवं लकड़ी के बने हैं। इन चित्रों के दर्शन से यह प्रतीत होता है कि चित्रों में अन्य भारतीय चित्र शैलियाँ, राजस्थानी, पहाड़ी, पाल, जैन आदि के गुण भी विद्यमान हैं। इन लघुचित्रों के आकार 16 x 28 सेमी. (6 इंच x 1 इंच) 26 x 38 सेमी. (10 इंच x 15 इंच) तक के हैं। किसी-किसी चित्र में सोने (स्वर्ण) के तबक से भी काम किया गया है, चित्रों में आकृतियाँ सुव्यवस्थित हैं। लगभग चित्रों में एक ही धरातल पर कई कथाओं को प्रस्तुत करने का प्रयास कलाकार का रहा है। यह पता कर पाना कठिन कार्य है कि इन चित्रों के कलाकार कौन हैं, सम्भवतः ये चित्र भी अन्य भारतीय लघुचित्रों की तरह राजा एवं राज दरबारों के संरक्षण में बने हैं। उस समय यह परम्परा नहीं होती थी कि चित्रकार कृति में अपना नाम अंकित कर सके।

इन लघुचित्रों का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि इन सभी में देवनागरी लिपि में कथाएं संक्षेप रूप से लिखी गयी हैं इनकी भाषा राजस्थानी या मारवाड़ी है[10] जिसे कलाकारों द्वारा चित्रों की कथा के अनुरूप लिखा गया है। पंक्तियों की लयबद्धता को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो ये छन्द या कविता रूप में अंकित किये गये हैं जो धरातल में अंकित प्रसंगों को प्रस्तुत करते हैं। प्रदर्शित चित्र हैं -

1. श्री शुकदेव जी, राजा परीक्षित एवं ब्रह्मा जी तथा शेषनाग पर लक्ष्मी-नारायण।

2. राजा यदु के साथ सूर्य, चन्द्र एवं कृष्ण भगवान।

3. वसुदेव-देवकी का विवाह एवं उग्रसेन और अन्य प्रजाजन।

4. श्री देवकी जी के प्रथम पुत्र का जन्म तथा उसे कंस के पास लेकर जाते वसुदेव जी और नारद द्वारा कंस के पास जाकर समझाना और बच्चे को कंस द्वारा मार डालना।

5. योग माया का यशोदा के घर जाना और गर्भ में प्रवेश करना।

6. कृष्ण को लेकर जमुना पार करते वसुदेव जी का मथुरा से गोकुल जाकर कृष्ण को यशोदा के पास रखकर कन्या योग माया को साथ लेकर आना।

7. कंस द्वारा योग माया को शिला पर पटकने जाना और उसका विंध्याचल की देवी के रूप में अष्टभुजाओं सहित प्रकट होना।

8. कंस का अपने असुरों- प्रबलासुर, पूतना, मुष्टिकासुर, अघासुर, बकासुर, केशीकासुर, धेनुकासुर आदि को कृष्ण की हत्या का आदेश देना।

9. नन्द जी के यहाँ ब्रज में कृष्ण जन्म का उत्सव एवं कंस के दरबार में भेंट लेकर गये नन्द जी।

10. पूतना का कंस की आज्ञा से कृष्ण को माया रूप में वध करने के लिए तथा कृष्ण के द्वारा उसका दूध पीने के उपरान्त उसका अपने निज रूप में प्रकट होना।

11. पूतना का वध तथा ब्रजवासियों द्वारा उसकी देह का अन्तिम संस्कार।

12. ब्रज में कंस का आतंक तथा बालक कृष्ण द्वारा स्वयं की रक्षा।

13. कंस का बालक कृष्ण को मारने हेतु दैत्य को भेजना।

14. बालकों के नामकरण के लिए नन्द जी का पुरोहित से चर्चा करना।

15. कृष्ण और बलदेव की बाल लीलाओं का सुख लेती रोहिणी एवं यशोदा।

16. कृष्ण का माखन चोरी करना एवं बाल-गोपालों के साथ क्रीड़ा करना।

17. यशोदा जी का बालक कृष्ण के मुख में सभी नक्षत्रों का दर्शन एवं उनके पूर्व जन्म का स्मरण कराना।

18. माता यशोदा का बालक कृष्ण को स्तनपान कराना तथा कृष्ण का माखन चोरी करना।[11]

19. कुबेर के श्रापित दो पुत्रों नलकूबर-मणिग्रीव[12] को उखल-बन्धन के समय मुक्ति देना।

20. माता रोहिणी तथा यशोदा के साथ बलदेव और कृष्ण का नगर भ्रमण।

21. कृष्ण और बलराम का ब्रज से दूर गायों को चराने जाना।

22. वत्सासुर का वध।[13]

23. अजासुर का कृष्ण एवं साथियों को निगल जाना।

24. ब्रह्मा जी का पृथ्वी पर कृष्ण के दर्शन के लिए आना एवं उनको ग्वालबालों की जूठन खाते देख विचलित हो जाना।

25. ब्रह्मा जी का पृथ्वी पर कृष्ण की परीक्षा लेने की सोचना।

26. श्री कृष्ण के बांसुरी-वादन से मंत्रमुग्ध होते बृजवासी एवं गायें।

27. कृष्ण एवं बलदेव जी का गाय चराते समय ब्रह्मा जी का उनकी परीक्षा लेने के लिए ग्वाल बालों एवं गायों को चुरा लेना।

28. भगवान शिव, पितामह ब्रह्मा एवं पालनकर्ता विष्णु (ब्रह्मा जी का मोह भंग)।[14]

29. ब्रह्मा जी का भगवान श्री कृष्ण के चरणों में गिरकर क्षमा मांगना।

30. गायों सहित गोकुल में आनन्दित कृष्ण एवं ग्वाल बाल एवं ब्रह्मा।

31. मृत गायों एवं ग्वाल बालों को प्राणदान देते कृष्ण।

32. कालिया नाग का प्रकोप तथा उसे देखने के लिए नन्द, यशोदा, रोहिणी आदि का जमुना जी. के

तट पर आना।

33. भगवान कृष्ण के द्वारा कालिया नाग एवं उसके परिवार को वरदान देना।[15]

34. जमुना जी के किनारे वन में अग्नि-काण्ड और कृष्ण का उसे रोकना (दावाग्नि-पान)।[16]

35. दावाग्नि के उपरान्त सुरक्षित नन्द-यशोदा के साथ कृष्ण और बलराम तथा ग्वालबालों को लौटता देख हर्षित होती नगर की ग्वालिनें।

36. कालिया नाग से सुरक्षित कृष्ण के कल्याण के लिए नन्द बाबा और माता यशोदा का वस्त्र एवं गायों को दान देना।

37. कालिया नाग का ब्रज पर आतंक एवं उसके दमन के लिए गरुड़ जी का पृथ्वी पर आना।

38. गायों को चराते हुए बलदेव जी को प्रलम्बासुर उठाकर ले जाता हुआ तथा बलदेव जी द्वारा उसका दमन करना।

39. कृष्ण और बलराम वट वृक्ष के नीचे।

40. बलदेव और कृष्ण वार्तालाप करते हुए तथा ग्वाल-बालों एवं गायों तथा मोरों द्वारा उनकी बातों को सुनना।

41. गोपियों द्वारा कृष्ण एवं बलराम का पूजन-अर्चन।

42. इन्द्र को दिया जाने वाला वार्षिक उत्सव का भाग व उपहार गोवर्धन जी को अर्पित करना। (गोवर्धन पूजा)[17]

43. इन्द्र और उनके हाथी एरावत द्वारा श्रीकृष्ण की पूजा।

44. नन्द जी का जमुना जी में स्नान करना।

45. माया का कृष्ण की नगरी में दर्शन देना।

46. सभी गोपियों का कृष्ण को अपने प्रिय के रूप में देखना।

47. भगवान श्री कृष्ण गोपियों एवं भगवती राधा के साथ जमुना के तट पर।

48. गोपियों का भगवान श्री कृष्ण का इन्तजार जमुना के तट पर करना।

49. गोवर्धनधारी कृष्ण तथा इन्द्र एवं एरावत व कालिया नाग एवं उसके परिवार के द्वारा कृष्ण की प्रार्थना एवं पूजा।

50. भगवान कृष्ण का गोपियों के साथ रासलीला रचाना तथा स्वर्ग के देवताओं द्वारा उनका दर्शन। इसे भक्त और भगवान के बीच प्रेम एवं भक्ति का रूप माना गया है।[18]

51. भगवान विष्णु, देवी लक्ष्मी तथा विष्णु एवं ब्रह्मा जी के द्वारा भगवान शिव की पूजा-प्रार्थना।

52. श्री कृष्ण की माया में मोहित हो सभी गोपियों का स्वप्न देखना और फिर उनसे मिलने के लिए जमुना के तट आना।

53. बलदेव और श्रीकृष्ण द्वारा गोपियों की रक्षा।

54. श्रीकृष्ण का वृषभासुर को युद्ध के लिए आमंत्रण।

55. श्रीकृष्ण एवं वृषभासुर का युद्ध।

56. मयासुर का कृष्ण से युद्ध और देवताओं का आकर उसे देखना।

57. नारद जी का नन्द बाबा के घर आना।

58. श्रीकृष्ण जी का कंस के यहा आना।

59. श्रीकृष्ण का अश्वरूपी दैत्य से युद्ध।

60. कृष्ण द्वारा केसी का संहार तथा देवताओं द्वारा कृष्ण पर पुष्प वर्षा।

61. अक्रूर जी का नन्द बाबा के घर से कृष्ण एवं बलराम को लेने आना।

62. अक्रूर जी का कृष्ण और बलदेव को लेकर मथुरा जाना।

63. अक्रूर जी को स्नान के समय जल के भीतर नदी में भगवान विष्णु के दर्शन होना। (अक्रूर जी को जल में दिव्य दर्शन)।[19]

64. अक्रूर जी के द्वारा कृष्ण और बलराम का मथुरा में स्वागत।

65. श्रीकृष्ण का मथुरा के बाजार में स्वागत तथा नन्द बाबा को मथुरा आने का आमन्त्रण देने गये कंस के चाकर।[20]

66. बलराम और कृष्ण का मथुरा के बाजार में घूमना।

67. कंस का स्वप्न में यमराज को देखना।

68. कंस के द्वारा मदमस्त हाथी को कृष्ण और बलराम को मारने के लिए भेजना। (कुवलयापीड का उद्धार)[21]

69. मदमस्त हाथी को कृष्ण को मारने के लिए भेजना तथा कृष्ण द्वारा उसका वध करना तथा मथुरा वासियों को उन्हें देखना।

70. कंस के दरबार में कृष्ण और बलराम की जय-जयकार।

71. मल्ल युद्ध में कृष्ण और बलराम का युद्ध जीतना। (चाणूर एवं मुष्टिक पर कृष्ण-बलराम की विजय)[22]

72. वसुदेव-देवकी द्वारा कृष्ण और बलराम को शिक्षा के लिए गुरुओं को सौंपना तथा उनका जनेऊ (उपनयन) संस्कार होना, आकाश से पुष्प वर्षा।

73. बलराम एवं कृष्ण का शिक्षाग्रहण हेतु गुरू सान्दीपनि के घर अवन्ती (उज्जैन) जाना।[23]

74. कृष्ण और बलदेव का अपने माता-पिता से आशीर्वाद लेना।

75. उद्धव जी का कृष्ण के कहने पर यशोदा एवं नन्दबाबा तथा गोपियों को समझाने हेतु जाना।[24]

76. जमुना जी के तट पर उद्धव जी का गोपियों एवं नगरवासियों से मिलना तथा उन्हें ज्ञान की बातें समझाना।

77. ब्रजवासियों को न समझा पाने के उपरान्त उद्धव का मथुरा वापसी।

78. मथुरा में कृष्ण द्वारा उद्धव जी का स्वागत एवं उनसे ज्ञान योग की बातें करना।

79. अक्रूर जी के द्वारा कृष्ण की पूजा एवं आरती करना और कृष्ण का उनके घर पधारना।

80. अक्रूर जी का कृष्ण के भवन में पधारना तथा उग्रसेन से युद्ध के विषय में चर्चा करना।

81. कृष्ण लीला की सूचना पा कर जरासन्ध का मथुरा पर चढ़ाई करना।

82. श्री कृष्ण और बलदेव जी का युद्ध के लिए सेना सुसज्जित करना।

83. बलदेव एवं कृष्ण का जरासन्ध के सैनिकों से युद्ध करना।

84. जरासन्ध से कृष्ण और बलराम का 23 बार युद्ध में विजयी होकर वापस मथुरा जाना एवं मथुरा वासियों द्वारा उनका स्वागत करना।

85. जरासन्ध के बारबार आक्रमण से परेशान नयी नगरी द्वारिका का निर्माण का विचार करना।[25]

86. कालयवन नामक दैत्य से बचने के लिए कृष्ण का पर्वत की गुफा में जाना तथा वहाँ पर राजा राम के पूर्वज (मुचकन्द, यह सतयुग से सो रहे थे) के द्वारा कालयवन को मृत्यु प्राप्त होना।

87. कृष्ण-जरासन्ध युद्ध।

88. कृष्ण को सभी नगरवासियों को इस घटना को प्रत्यक्ष जाकर दिखाना।

89. बलदेव और कृष्ण का आकाश मार्ग से दिव्य रथ मंगाना।

90. कृष्ण का अपने राज्य में भ्रमण करना तथा सारथी से वार्तालाप करना।

91. हारने के बाद जरासंध का फिर से महल पर चढ़ाई करना।

92. श्री रूकमणि जी द्वारा कृष्ण भगवान को वर के रूप में ग्रहण करना।

गीताप्रेस के कारण गोरखपुर का विश्वस्तर पर नाम है।

गीताप्रेस का अनोखा चित्र मन्दिर भारतीय संस्कृति एवं परम्परा का भी केन्द्र स्थल अत्यन्त ही सुन्दर एवं शान्तिपूर्ण है। गीताप्रेस का मुख्य प्रवेश द्वार अत्यन्त ही आकर्षक है। इसके निर्माण में भारत की वास्तुकला के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं जैसे महाराष्ट्र स्थित **'अजन्ता एलोरा',** पश्चिम बंगाल में कोलकत्ता स्थित **'दक्षिणेश्वर काली मन्दिर**, वाराणसी के **'काशी विश्वनाथ मन्दिर'**, मथुरा के **'द्वारकाधीश मन्दिर'**, पुरी के **'श्री जगन्नाथ जी का मन्दिर'**, **'भुवनेश्वर'** तथा जनकपुर के **'श्री जानकी जी का मन्दिर'**, कोणार्क के **'सूर्य मन्दिर',** मदुरै के **'मीनाक्षी मन्दिर'**, अमृतसर के **'स्वर्ण मन्दिर'**, मध्यप्रदेश के **'खजुराहो**

मन्दिर', **'साँची स्तूप'**, राजस्थान के आबू स्थित **'जैन मन्दिर'**, उज्जैन के **'महाकालेश्वर'**, उत्तराखण्ड के **'केदारनाथ मन्दिर'** एवं बिहार के **'बोधगया मन्दिर'** आदि की छवि गीताप्रेस के प्रवेश द्वार में देखने को मिलती हैं।

गीताप्रेस के लीला-चित्र मन्दिर में भगवान श्री राम एवं लीलाधारी कृष्ण के जीवन के सम्पूर्ण प्रसंगों का दर्शन चित्रों के रूप में होता ही है परन्तु मेवाड़ी शैली के जो 92 लघुचित्र हैं जो श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर द्वारकानगरी के निर्माण एवं रुकमणी-कृष्ण के विवाह तक उपलब्ध हैं। द्वारका नगरी के निर्माण के पश्चात् भगवान श्री कृष्ण ने महाभारत युद्ध में पाण्डवों का साथ दिया था। इस प्रसंग का मेवाड़ी शैली सहित किसी भी लघुचित्र शैली में कोई भी चित्र निर्मित नहीं किया गया।

गीताप्रेस के लीला-चित्र मन्दिर में अन्य कला संस्थानों के चित्र भी संग्रहित हैं जैसे- ओरियन्टल आर्ट, म्यूजियम ऑफ फाइन आर्ट-वोस्टन, बाम्बे आर्ट, मुगल शिल्प, कांगड़ा शिल्प, भारतीय शिल्प, जयपुर शिल्प, रॉयल अकादमी तथा मद्रास शिल्प आदि की भी कलाकृतियों को यहाँ संग्रहित किया गया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि गोरखपुर में गीताप्रेस और गीताप्रेस में लीला-चित्र मन्दिर अपने आप में कला और धर्म का एक अनोखा स्थल है जहाँ पर सभी धर्मसमुदाय के देखने योग्य चित्र संग्रह है। गीताप्रेस गोरखपुर द्वारा लघुचित्रों की परम्परा को संजोया एवं बढ़ाया जा रहा है, जो हमें आधुनिक एवं समकालीन कलाकृतियों (चित्रों) में देखने को मिलता है। ये कृतियाँ यहीं के चित्रकारों द्वारा चित्रित की जाती है तथा यहाँ के धार्मिक ग्रन्थों के अनुसार प्रसंगों पर आधारित रहती है, एक प्रकार से 'कथा चित्रण' (इलेशट्रेशन) का सबसे बड़ा केन्द्र है गीताप्रेस-गोरखपुर।

सन्दर्भ

1. 'महायोगी गुरु गोरखनाथ एवं उनकी तपस्थली, गोरखनाथ मंदिर गोरखपुर की परिचायिका, रामप्रताप चन्द्र, पृ.सं.-20। **2.** 'कल्याणकारी दोहा संग्रह' (गीताप्रेस परिचय सहित) गीताप्रेस गोरखपुर, पृ. सं. 5। **3.** 'श्री हरि' कल्याणकारी दोहा-संग्रह, कोड सं. 774, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ.स. 5। **4.** साभार-- गीताप्रेस--लील चित्र मन्दिर, गीताप्रेस गोरखपुर। **5.** 'कल्याणकारी दोहा संग्रह', गीताप्रेस गोरखपुर का प्रकाशन, पृ.सं. 108। **6.** डॉ. लालमणी तिवारी, उत्पादन व्यवस्थापक गीताप्रेस गोरखपुर। **7.** http:/www.gitapress.org-gal.htm. **8.** साभार-- श्री गोपाल प्रसाद साधक, तत्कालीन चित्रकार, गीताप्रेस गोरखपुर। **9.** साभार-- डॉ. लालमणी त्रिपाठी प्रोडक्शन मैनेजर, गीताप्रेस गोरखपुर। **10.** साभार-- डॉ. लालमणी त्रिपाठी प्रोडक्शन मैनेजर, गीताप्रेस गोरखपुर। **11.** 'श्री हरि' गोपाल, कोड़--870, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ.सं. 10। **12.** 'श्री हरि' गोपाल, कोड-870, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ.सं. 12। **13.** 'श्री हरि' गोपाल, कोड--870, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ.सं. 18। **14.** 'श्री हरि' मोहन, कोड--871, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ.सं. 2। **15.** 'श्री हरि' मोहन, कोड--871, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ.सं. 4। **16.** 'श्री हरि' मोहन, कोड--871, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ.सं. 6। **17.** 'श्री हरि' मोहन, कोड--871, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ.सं. 8। **18.** 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' कोड-631, श्री कृष्ण खण्ड, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ.सं. 404। **19.** 'श्री हरि' मोहन, कोड-871, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ.सं. 16। **20.** 'प्रमुख देवता' कोड--1215, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ.सं. 15। **21.** 'श्री कृष्ण', कोड--872, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ.सं. 2। **22.** 'श्री हरि' प्रमुख देवता, कोड--1215, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ.सं. 15। **23.** 'श्री कृष्ण', कोड--872, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ.सं. 8। **24.** 'श्रीमद्भागवत--महापुराण', दशमस्कन्ध (पूर्वार्ध) कोड-27, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ.सं. 266। **25.** 'प्रमुख देवता' कोड--1215, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ.सं. 15।

म.नं. 718-के, लक्ष्मीनगर कॉलोनी,
बी. आर.डी. मेडिकल कॉलेज के पीछे,
पो.ऑ.-झुंगीया बाजार,
जिला-गोरखपुर (उ.प्र.)-273013
फोन- 9838752535
7734073291 (राज.)
ई-मेल-dr.renushahi@yahoo.co.in

रज़ा पुस्तकालय में संग्रहित मुगल-शैली के लघुचित्र

रुचि सक्सेना

दिव्य सौन्दर्य और कोमलता का आभास देते हुए अपनी सहजता, रागात्मकता, उत्कृष्ट संयोजन, बारीक अंकन, विशिष्ट चित्रण पद्धति और कुशल हस्तकौशल एवं धार्मिक संवेदना व भावों के प्रति गहरी ग्रहणशीलता से परिपूर्ण लघुचित्र जो दरबारी अंचल में रोपित एवं पोषित हुए, मुगल चित्रकला की संज्ञा से परिभाषित किए गए। चित्रकला का आरम्भ तो मानव को उदयबेला के साथ ही हो चुका था और फिर "भारत में चित्रकला का आरंभ भित्ति चित्रों और छविचित्रों के अंकन से हुआ है। भित्तिचित्र भवनों, दीवारों, छतों और फर्शों पर बनाए जाते थे। इस प्रकार के चित्रों के केन्द्र राजा महाराजाओं के दरबार हुआ करते थे। छविचित्रों का संबंध मनुष्यों तथा देवताओं की आकृति से होता था। उनका प्रचलन सामान्य जनसमाज में था। इसके अतिरिक्त चमड़े पर, लकड़ी पर और हस्तलिखित ग्रंथों पर भी बनाए जाते थे।"[1] साधनों में शनैः-शनैः परिवर्तन एवं इज़ाफे की पृष्ठभूमि पर रंगी गई कृतियाँ विभिन्न शैलियों का रूप लेकर अवतरित हुई। भारत में मुगलों शासनकाल चित्रकला में गौरवपूर्ण नवीन तथ्य अंकित कर गया। इस कारण मुगल काल में निर्मित कृतियों का कला जगत में विशिष्ट स्थान है।

"मुगल लघुचित्रों को मध्ययुगीन भारत में संभ्रांत वर्ग की कला का दर्जा प्राप्त था। एक समृद्ध कला शैली में ढले इन अत्यन्त कल्पनाशील चित्रों में उत्कृष्टता स्वयमेव प्रकट होती है।"[2] और "ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाए तो विदित होता है कि मुगल शैली के परिवेश में मुगल सल्तनत का संपूर्ण इतिहास समाहित है। शाहंशाह बाबर से लेकर औरंगजेब के समय तक के भारत के सांस्कृतिक, सामाजिक, साहित्यिक उत्थान-पतन का वास्तविक स्वरूप तत्कालीन चित्रों में स्पष्ट रूप से विद्यमान है। मुगलकालीन भारत की तथ्यात्मक एवं प्रामाणिक जानकारी के लिए मुगल शैली ही एकमात्र सधन है।"[3] वास्तविक रूप में कला अपने समय, परम्परा व संस्कृति की परिचायक होती है। जिसके परिणामस्वरूप ही अविस्मणीय कृतियों का जन्म व पोषण होता है। ऐसा ही स्वरूप हमें मुगल कृतियों में भी दृष्टिगोचर है और इसके कुछ अनमोल व दुर्लभ साक्ष्य रामपुर के रज़ा पुस्तकालय में दर्शनीय हैं।

रज़ा पुस्तकालय (देखिए चित्रफलक-1) रामपुर, भूमि का बहुमूल्य रत्न है एवं नवाबों के कलात्मक प्रेम का उत्कृष्ट उदाहरण भी है। पुस्तकालय का निर्माण किताबों के बेहद शौकीन

रामपुर के प्रथम नवाब फैजुल्लहा खाँ द्वारा 1774 ई. में हुआ, फिर इनके वंशजों ने भी इसे अपने कलात्मक व ज्ञानात्मक भाव से पोषित एवं पल्लवित किया। रज़ा पुस्तकालय का बाह्य एवं आन्तरिक सौन्दर्य दर्शक को अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। क्योंकि पुस्तकालय का बाह्य स्वरूप जितना दर्शनार्थ है, आन्तरिक रूप उतना ही अध्ययनार्थ है। नवाबों की कला दृष्टि ने ही रामपुर व रज़ा पुस्तकालय को ख्याति के शिखर पर आरूढ़ कराया। यह महान पुस्तकालय अद्वितीय पुस्तकों, दुर्लभ हस्तकला--चित्रों एवं बहुमूल्य पाण्डुलिपियों के कारण न केवल भारत में बल्कि विश्वव्यापी स्तर पर ख्याति रखता है। पुस्तकालय के गर्भ में विभिन्न बहुमूल्य रत्न गर्भित हैं। "इनमें--75 हजार से ज्यादा किताबें और 16 हजार बेशकीमती पाण्डुलिपियाँ, हाथी दाँत पर अकबर और उसके नौ रत्नों की तस्वीरें तथा लघुचित्र इस नायाब धरोहर की कहानी खुद-ब-खुद बयां कर देते हैं।"[4] मुगल कालीन लघुचित्रों की चमक विशिष्ट है जो हमारा साक्षात्कार मुगलों की कलात्मकता से कराते है। क्योंकि मुगल शैली का उदय और पोषण मुगल शासकों के कलात्मक दृष्टिकोण का ही परिणाम है।

भारत में मुगल सल्तनत का संस्थापक बाबर "एक अदभुत कला पारखी शासक था। वह एक सिद्धहस्त कवि और साथ ही सुन्दर गद्य का लेखक था। तुर्की भाषा में उल्लेखित बाबर का आत्मचरित्र 'तुजिक-ए-बाबरी' 'बाबरनामा' बड़े महत्त्व की पुस्तकें हैं।"[5] रज़ा पुस्तकालय में तुर्की भाषा का अद्वितीय संग्रह है जिसमें महत्वपूर्ण "दीवाने बाबर है जिसे बाबर ने अपने जीवन काल में लिखवा लिया था। इस प्रति पर बाबर बादशाह की कलम की इस्लाहें और अन्त में एक रूबाई स्वयं बाबर के हाथ की लिखी हुई है।"[6] रज़ा पुस्तकालय में संग्रहीत एक कृति जिसमें सम्राट बाबर को तुजुक-ए-बाबरी लिखवाते हुए दर्शाया है। यह कृति कला का तो उत्कृष्ट परिणाम है ही साथ ही मुगल काल में बाबर के इतिहास की भी सूचक है एवं कला व इतिहास के मिलन की अद्‌भुत साक्षी है। वाचस्पति गैरोला की पुस्तक 'भारतीय चित्रकला' में वर्णित है कि मुगल चित्रों के ऐतिहासिक दृष्टिकोण ने विदित किया ही है कि मुगल शैली के परिवेश में मुगल सल्तनत का सम्पूर्ण इतिहास समाहित है, जिसमें कलाकारों का हस्तकौशल भी सराहनीय है जिन्होंने तत्कालीन क्रियाकलापों को आकार प्रदान कर सजीवता प्रदान की।

बाबर के कलात्मक अंश उसके पुत्र हुमायूँ में भी विद्यमान थे एवं चित्रकला में उसकी विशिष्ट रुचि थी। विद्वानों के मातानुसार, "हुमायूँ अपनी युद्ध यात्राओं के दौरान अपने साथ सचित्र पुस्तकें रखता था और अवकाश के क्षणों में उन्हें देख कर अपनी कलाभिरुचि संतुष्ट करता था। उसके दरबारी चित्रकार हर समय उसके निकट रहते थे।"[7]

हुमायूँ के पश्चात् मुगलकला को सुचारू रूप से श्रेष्ठ मार्ग पर अग्रसर एवं उच्च स्तर पर आरूढ़ कराने का श्रेय हुमायूँ के पुत्र अकबर को समर्पित है।

उसका चित्रकला के प्रति प्रेम अबुलफज़्ल द्वारा आईन-ए-अकबरी में इन पंक्तियों द्वारा उद्धृत है, "बहुत से लोग चित्रकला से घृणा करते हैं। मुझे ऐसे लोग पसन्द नहीं हैं। मेरी राय में चित्रकार के पास ईश्वर से साक्षात्कार करने के विविध साधन हैं क्योंकि जब चित्रकार किसी जीव का चित्र बनाता है तब एक अंग को बनाते समय उसे यह अनुभव होता है कि वह अपनी कृति को वैसा अनुभव नहीं दे सकता जैसा ईश्वर और इस प्रकार वह ईश्वर के विषय में सोचने के लिए बाध्य हो जाता है क्योंकि ईश्वर जीवनदाता है और मनुष्य उसकी नकल नहीं कर सकता। इस प्रकार चित्रकार का ज्ञान बढ़ता है।"[8] अकबर स्वभाव से अत्यन्त उदार और कला प्रेमी था। वह धार्मिक कट्टरता से मुक्त था। उसके काल में निर्मित दीवान-ए-हाफ़िज भी रज़ा पुस्तकालय के संग्रह में है जो अकबर के शासन काल के इतिहास पर भी प्रकाश डालता है। "यह हाफ़िज शिराज़ी की शेरो शायरी की पुस्तक है, जो अकबर के काल में चित्रित हुई। इसके चित्र प्रारंभिक अकबर शैली के हैं। कहा जाता है कि इस ग्रंथ में बड़ी-बड़ी समस्याओं का निदान लिखा है- यथा एक शहजादी का हार चोरी हो गया, तो रात में ही दीवान-ए-हाफ़िज खोला गया और शहजादी ने अपनी आँख बन्द कर एक अँगुली ग्रन्थ में लिखे शेर पर रख दी, तत्काल दासी को मोमबत्ती लेकर बुलाया गया और शेर पढ़ा गया--'चोर भी कैसा है शमा को उठाये है' जाहिर हुआ। हार इसी दासी द्वारा चुराया गया था। दीवान-ए-हाफ़िज की एक प्रति 'ब्रिटिश म्यूज़ियम एण्ड लाइब्रेरी, लंदन' व दूसरी 'चेस्टरबेट्टी लाइब्रेरी, डब्लिन' में है तथा तीसरी प्रति 'रामपुर के राज़ा' के पोथीखाने में सुरक्षित है।"[9]

"यह 1575-80 ई. के मध्य की है। इसमें अकबर के शासन काल को चित्रों द्वारा प्रदर्शित किया है। इस पाण्डुलिपि के चित्रों को अकबर के दरबार में नियुक्त चित्रकारों ने बनाया था। यह पाण्डुलिपि नस्तलीक लिपि में लिखी गई है और इसमें ग्यारह लघु चित्र हैं।"[10] जिनमें अपने समकालीन मोती जड़े हुए हैं। इसी श्रेणी की एक कृति में बादशाह अकबर को अपने दरबार में दिवान-ए-हाफ़िज को पूर्ण निष्ठा से श्रव्यपान करते हुए उत्कीर्ण किया गया है। चित्रकला का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है। चित्र में व्यक्तियों द्वारा दीवान-ए-हाफ़िज पढ़ते हुए एवं बादशाह अकबर को सिंहासन पर आरूढ़ किताब को ध्यान से सुनते हुए प्रकृति की मनोरम छटा के साथ अंकित किया गया है जिसके हाशिए में सुन्दर अलंकरण है। इसमें कलात्मक रेखाओं से परिपूर्ण पुष्प पत्तियों से युक्त आलेखन अपनी पुनरावृत्ति के साथ उत्कीर्ण है।

वास्तविक रूप में मुगल शैली की हाशिया परम्परा का कला जगत में विशिष्ट स्थान है। कृति को चारों ओर से खत में बाँधने की प्रथा थी। इन खतों को सुन्दर अलंकृत नमूनों से सजाया जाता था। हाशियों में पुष्प-पत्तियों के अतिरिक्त चित्र से संबंधित पशु-पक्षी व मानवाकृतियाँ भी चित्रित की जाती थी, साथ ही कभी-कभी सोने या चाँदी को छिड़क दिया जाता था, जिससे चित्र में सौन्दर्यवृद्धि हो जाया करती थी। मुगल शैली के चित्रों में भवन-चित्रण की विशिष्टता रही है इनमें सफेद संगमरमर या लाल रंग से स्थापत्य निरूपित किए गए हैं। प्रायः आकृतियों में एक चश्म चेहरे या पौने दो चश्म चेहरे अंकित हैं। पुरुषों को सामान्यता जामा, चुस्त पायजामा, कमर में पटका, पगड़ी धारण किए हुए उकेरा गया है। बादशाहों व योद्धाओं के जूते व पोशाकों में विभिन्नता है। उनकी पगड़ियों में मोती की लड़ों का सौन्दर्य तो है ही साथ ही कानों में कुण्डल व मोतियों की लड़ की मालाएँ भी इनके सौन्दर्य में वृद्धि कर रहे हैं। हाशिए के साथ ही अलंकरण फर्श में भी शोभावृद्धि कर रहा है। यह अलंकरण कहीं पर लयात्मक है, तो कहीं पर ज्यामितीय भी है। दीवान-ए-हाफ़िज की एक अन्य कृति चित्र "तुर्की हम्माम तथा शराब का आनन्द लेते हुए राजकुमार की रोचक पेंटिंग है, यह पेंटिग चित्रकार नरसिंह द्वारा बनाई गई है जिसमें 16वीं शताब्दी की

समकालीन जीवनशैली को दर्शाया गया है।"[11]

अकबर के काल में बहुत सी पोथियाँ चित्रित की गई थी जिससे उसका कला के प्रति अतुल्य अनुराग दर्शनीय है। कभी-कभी उसका कला के प्रति प्रेम इतना प्रबल हुआ कि उसने नवीन कलात्मक धारा के प्रवाह के लिए स्वयं को ही अग्रणी रखा, "अकबर ने स्वयं अपनी अनुकृति बनवाई और यह आदेश दिया कि साम्राज्य के सभी उमरा अपने-अपने व्यक्ति चित्र बनबाएं। अबुल फज़्ल के कथनानुसार इन व्यक्ति-चित्रों को एक बड़ी पोथी में संग्रहित किया गया। यह व्यक्ति चित्रण मुगल कला का अपना निजी पक्ष है जिसका प्रारम्भ और विकास मुगलों के उदार और चेतनशील संरक्षण और उनके सम्पन्न और सांस्कृतिक युग में ही संभव हुआ। भारतीय चित्रकला में यह नवीन धारा का सूत्रपात करता है।"[12] इसके साथ ही यह परम्परा निरन्तर सौन्दर्य को धारण कर गतिमान रही और कला जगत के लिए अनमोल साक्ष्य उत्कीर्ण करती गई। इसके कुछ कलात्मक परिणाम इस पुस्तकालय में भी संग्रहित हैं, "रज़ा पुस्तकालय में संग्रहित एलबमों में मंगोल, तैमूर, मुगल शासकों, राजकुमारों व उच्च स्तर के लोगों के लघुचित्र मौजूद हैं। इन कृतियों में मुगल बादशाहों की छवियों के साथ ही मुगल सृजन को सजीवता प्रदान करने वाले चितेरों (दरबारी चित्रकारों) के भी छविचित्र अंकित हैं। इन व्यक्ति चित्रों में बादशाह जहाँगीर का चित्र अत्यन्त सौन्दर्य के साथ अंकित है।

उक्त कृति मुगल काल के सुन्दर चित्रण का प्रत्यक्ष साक्ष्य है। चित्र में रंग रेखाओं, तूलिकाओं व संयोजन के कुशल प्रयोग द्वारा निर्माण किया गया है। कृति में बादशाह को गौरवपूर्ण चित्रित किया गया है। चित्र में प्रयुक्त नीला वर्ण वैभव का प्रतीक है, पगड़ी में प्रयुक्त नारंगी वर्ण का प्रयोग संभवतः उनकी गौरवशाली बुद्धि का प्रतीक होगा। चित्र में निर्मित आभा मण्डल उनकी समृद्धि को दर्शा रहा है। जहाँगीर का व्यक्ति-चित्रण में उद्देश्य विशिष्ट था, "जहाँगीर का उद्देश्य अपने आपको एक असाधारण, गुणवान, भाग्यवान, दैवीय वरदानयुक्त प्रदर्शित करना था। उसकी महत्वकांक्षा साम्राज्य और समृद्धि से ऊपर उठकर विश्व ख्याति तक पहुँच गई थी। वह अपने व्यक्ति चित्रों में स्वयं को संसार का सर्वश्रेष्ठ देवोपम गुणों से युक्त व्यक्ति प्रमाणित करना चाहता था। इसी उद्देश्य पूर्ति के लिए उसने अपने व्यक्ति-चित्रों में आभा मण्डल को चित्रित कराया। चित्र में हाशिए का भी सुन्दर चित्रण है। इसमें भी सौन्दर्यपूर्ण पुष्प-पत्तियों का अंकन लय एवं पुनरावृत्ति के साथ अंकित है।

जहाँगीर का काल मुगल चित्रकला में स्वर्ण युग कहलाया। जहाँगीर के कला प्रेम के विषय में अंग्रेजी दूत "सर टॉमस रो" ने वर्णन किया है कि, "एक बार मैं जहाँगीर के दरबार में गया, जहाँ उसने जहाँगीर को देने के लिए पाश्चात्य चित्र दिखाए, जिसमें से एक चित्र जहाँगीर को बहुत पसन्द आया और उन्होंने उसे एक रात के लिए ले लिया। दूसरे दिन सम्राट जहाँगीर ने सर टॉमस रो के सम्मुख चित्र की पाँच-छः प्रतियाँ प्रस्तुत कर दी और कहा कि आप अपनी चित्राकृति छाँट लीजिए। प्रतिकृतियाँ इतनी समान थी कि रो को यह पहचनना कठिन हो गया की उनमें से कौन सी उनकी मूल तस्वीर है।"[14] जहाँगीर ने अपना कला प्रेम व पारखी दृष्टि के विषय में स्वयं जहाँगीर नामा में भी वर्णित किया है। जिससे ज्ञात होता है इन बादशाहों में आत्मकथाओं के प्रति भी गहरी रुचि विद्यमान थी और जहाँगीर ने अपने आत्मिक भावों को शब्दों का आवरण भी पहनाया है। "मुग़ल सम्राट जहाँगीर का संस्मरण तारीख-ए-सलीमशाही, कारनामा-ए-जहाँगीरी, वाकियात-ए-जहाँगीरी, दयाज-ए-जहाँगीरी, इकबालनामा, जहाँगीरनामा, मकालात-ए-जहाँगीरी एवं तुजुक-ए-जहाँगीरी के नाम से प्रसिद्ध हैं। जहाँगीर ने अनेक सस्मरण 1605 से 1617 ई. तक लिखे है। इसके बाद उसकी देखरेख में मुहम्मद हारी ने उसके संस्मरणों को उसके शासन काल के अंत तक लिखा है।"[15] "तुजुक-ए-जहाँगीरी / जहाँगीरनामा (सम्राट

जहाँगीर की आत्मकथा) की अनेक प्रतियाँ तैयार की गई थी, लेकिन कोई भी चित्रित पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं है। ऐसा अनुमान है कि रज़ा लाइब्रेरी, रामपुर में संग्रहित कुछ चित्र जो जहाँगीरनामा की घटनाओं से संबंधित हैं इस पाण्डुलिपि के लिए तैयार किए गए होगें।"[16] "जहाँगीरनामा की बादशाह जहाँगीर वाली निजी प्रति जिसका कुछ भाग नष्ट हो चुका है, वर्तमान में 'रामपुर स्टेट लाइब्रेरी' में सुरक्षित है।

जहाँगीर के समय में चित्रकला में यथार्थता आ चुकी थी। इस समय चित्रों के विषय साधारण जनजीवन, आमोद-प्रमोद, सूफी-संत, यात्रा, रनिवास, जुलूस आदि हैं। उसमें प्राकृतिक अवयवों के प्रति प्रेम था जिसे तत्कालीन चित्रकला को भी प्रभावित किया और उसके काल में प्रकृति, पशु-पक्षी का चित्रण अधिक प्रबल हो गया और पुष्प-पत्तियों, वृक्ष, पर्वत, बादल, वृक्षों के तने व पशु-पक्षियों के अंकन में अत्यधिक स्वाभाविकता आ गई थी। अब आखेट का चित्रण अधिक होने लगा एवं दुर्लभ पशु-पक्षियों, फलों का चित्रण हुआ। इस समय चित्रण में एक चश्म चेहरों की अधिकता हो गई थी। नाक, होंठ, ललाट और ठुड्डी की सीमान्त रेखा निर्मित कर दी जाती थी। इस समय व्यक्ति चित्रों के अंकन में वृद्धि हुई साथ ही छोटे आकारों के व्यक्ति-चित्र बनाने की परम्परा का प्रारम्भ भी हुआ। रंगों में भी सूफियानापन आ गया था एवं एक रंग की विभिन्न तानों का प्रयोग व मिश्रित वर्णों का भी प्रयोग होने लगा था। आकृतियों में पुरुषों को कुछ लम्बा जामा एवं पायजामा भी चित्रित होने लगा था। स्त्रियों में राजस्थानी एवं सूथन व ओढ़नी वाली वेशभूषा प्रचलित हो गई।

जहांगीर के पुत्र शाहजहां में चित्रकला के प्रति अपने पूर्वजों की भाँति उत्सुकता दृष्टिगोचर नहीं होती है। उसका प्रेम स्थापत्य में अधिक दर्शनीय है। अतः इस समय कलाकारों की कलम में भी कृत्रिमता ने प्रवेश पा लिया था। "चित्रकला का उद्देश्य अब मुगल सल्तनत के वैभव का प्रदर्शन करना मात्र रह गया था। उसमें अब भीतरी साधनों के भाव प्रदर्शित न होकर रियाज, बारीकी, रंगों की तड़क-भड़क, हस्त मुद्राओं का आकर्षण, अंग-प्रत्यंगों का उभार और हुकूमत का दबदबा आदि की अधिकता थी। स्त्रियों के अंगों का आकर्षक अंकन करने में चित्रकारों ने अवश्य ही कमाल हासिल किया, किन्तु चित्रकला के भावी विकास के लिए यह स्थिति शुभकर साबित न हुई।"[18] जिसके फलस्वरूप चित्रों के रंग प्रयोग, लेखांकन एवं रेखा सौन्दर्य में अभिवृद्धि हुई थी, किन्तु संख्यात्मक दृष्टि से उनके निर्माण में अपेक्षाकृत कमी आ गयी थी। लेकिन कला के प्रति प्रेम पूर्णतः विस्मृत नहीं हुआ था। शाहजहाँ को कैद कर सत्ता हथियाने वाले उसके पुत्र औरंगजेब चित्रकला के प्रति अरुचि के कारण चित्रकला अवगति के मार्ग पर अग्रसर हो गई। जिससे चित्रकार दरबार छोड़कर अन्यत्र स्थानों पर जाने लगे। जिस कारण चित्रकला प्राणहीन होती प्रतीत होने लगी। परन्तु समय में परिवर्तन हुआ और शिथिल होती चित्रकला में थोड़ी-थोड़ी संजीवनी प्रवाहित होने लगी अर्थात "औरंगजेब के उत्तराधिकारी पुत्र शाह आलम (1707 से 1712 ई.) जो बहादुर शाह के नाम से प्रसिद्ध था ने विलासी जीवन व्यतीत किया और कलाओं के प्रति प्रेम प्रदर्शित किया।"[19] इसके साथ ही शहजादा दारा, जहाँदार शाह, मोहम्मद शाह व फर्रुखसियर का कला के प्रति प्रेम रहा। इनके कुछ साक्ष्य रज़ा पुस्तकालय में भी सुरक्षित हैं।

कृतियों के साथ ही पुस्तकालय के संग्रह कोष में मुगल कालीन बहुत सी महत्वपूर्ण छ्टाएँ अपना प्रकाश बिखेर रही हैं। जैसे मुगल कालीन आखेट दृश्य जो मुगल शासकों की आखेट में रुचि के परिचायक हैं। इसी शृंखला में दिवान-ए-उरफी शिराजी के चित्र जिनमें हिरण एवं जंगली सुअर के शिकारों का चित्रण है। इस कृति में हिरण के शिकार का चित्रण हुआ है। मुगल शासकों को आखेट में रुचि

थी। हुमायूँ के समय में शिकार का अभियान कई दिनों तक चलता था। इसके पुत्र अकबर को भी आखेट से लगाव था, 'ऐतिहासिक साक्ष्य प्रमाणित करते हैं कि अकबर को शिकार का बड़ा शौक था। दरबारी आखेट स्थल का पूरा ध्यान रखते थे। अकबर अपने खजाने का बड़ा भाग आखेट पर खर्च कर देता था। अकबर जानवरों पर सम्पूर्ण ध्यान देता था।"[20] अकबर ने शेर, चीता, हाथियों व अन्य जंगली जानवरों का शिकार किया। वह शिकार बहुत कुशलता व बहादुरी से करते था अतः उनका भय शायद जानवरों को भी था, "अकबर आखेट कि लिए तैयार हो जाता था, लेकिन शेर डर के मारे पंजे गिरा देता था।"[21] अकबर की भाँति उनका पुत्र भी शक्तिशाली व आखेट प्रेमी था। जहाँगीर अपनी शाही यात्राओं में कलाकारों को अपने साथ ले जाया करता था। जिससे किसी भी विशिष्ट घटना व विशेष पशु-पक्षियों को अंकित कराया जा सके। जहाँगीर ने बहुत आखेट अभियान किए एवं बहुत से पशुओं को जीवित भी पकड़ा।

रज़ा पुस्तकालय संगीत और उसके मूर्त साक्ष्यों से भी पोषित है। यहाँ एक अत्यन्त सौन्दर्य से परिपूर्ण 35 रागमाला चित्रों से संकलित एलबम है। "एक महत्वपूर्ण एलबम रागमाला है जिसमें 35 राग व रागनियों के सुन्दर चित्रों, प्राकृतिक दृश्य, देवी-देवता, युवा संगीतज्ञ पुरुष व महिला, विभिन्न वस्तुएँ, समय परिस्थितियों के माध्यम से दर्शाया है। यह 17वीं शताब्दी के अन्त में बनाया गया है।"[22] भारतीय संगीत में रागों को 'नियमित स्वरों का समुदा' स्वीकारा गया है। 'राग' की उत्पत्ति 'रंग' से मानी जाती है, जिसका अर्थ रंग जाना, रंग से भर जाना, लाल हो जाना, प्रेरित रस या भाव के आवेश में बहजाना। इसीलिए शायद चित्रकार भी रंगों के प्रवाह में बह गया होगा साथ ही उन्हें सुनकर अपने अंतस में उतार लिया और अपनी तूलिका से मूर्त रूप प्रदान कर रंग भर दिया। उसने संगीत के श्रुत रूप को मूर्त सौन्दर्य प्रदान कर प्रत्येक व्यक्ति को आनन्दानुभूति के साथ सौन्दर्य का भी मर्म स्पर्श कराया। राग पुरुष और रागनियाँ स्त्रियाँ हैं। किंवदन्ति है कि रागों को संगीत माध्यम से सम्प्रेषित करने पर प्रकृति में भी कुछ क्षण के लिए परिवर्तन हो जाया करता था, मेघ मल्हार के स्वर बादलों से वर्षा प्रवाहित करा देते थे और दीपक राग के प्रभाव से दीप जागृत हो उठते थे। सभी रागों की ऋतुएँ भिन्न-भिन्न हुआ करती थीं। मुगल कालीन संगीत में फारस और उत्तर भारतीय संगीत का मिश्रण हुआ था जिसका प्रभाव संगीत के साथ ही साथ चित्र कृतियों पर भी परिलक्षित है। राग रागनियों को मानवीकृत रूप प्रदान कर अधिक सौन्दर्य हेतु उनके चारों तरफ हाशिए में भी आकर्षक अलंकरण उत्कीर्ण किया जाता था। जिस प्रकार स्वरों पर तालें थिरकती हैं उसी प्रकार चित्रों में रेखाएँ भी लयात्मक थिरकन प्रदर्शित करती हैं। इन्हीं तानों से प्रभावित हो बादशाहों ने राग-रागनियों को मूर्तता प्रदान कराई और इन्हीं थिरकनों से प्रभावित हो नवाबों ने इनका संकलन पुस्तकालय में किया।

पुस्तकालय में संग्रहित इस एलबम का एक चित्र 'राग हिंडोल' में प्रकृति की छटा चित्रित है। हिंडोल का अर्थ झूला होता है, संभवतः इसीलिए कृति में झूला भी अंकित है। चित्र में स्त्रियों का अंकन प्रकृति की मनोरम छटा में सौन्दर्यात्मक वृद्धि कर रहा है। मुगल कालीन विशेषता के अनुसार स्थापत्य भी अंकित है। नीले सफेद बादल राग के समय को दर्शा रहे हैं। एक अन्य कृति राग भैरव भी है। यह भी मुगल विशेषताओं को अपने सौन्दर्य के साथ प्रदर्शित कर रही है।

मुगल बादशाहों के कला एवं संगीत प्रेम ने ही चित्र व संगीत के इस मधुर मिलन को जन्म दिया एवं रागों के मूर्त रूप को कृति का चोला पहनाकर सदैव के लिए सुरक्षित कर दिया। कला अपनी संस्कृति का दर्पण होती है उसमें हमारे सौन्दर्यपूर्ण भाव संस्कृति को स्पर्श करते हुए अंकित होते हैं। "कला के द्वारा जो

रूप उत्पन्न होते हैं उससे संस्कृति का क्षेत्र भरता है और संस्कृति की काया पुष्ट होती है।"[23]

संग्रह की इसी श्रेणी में बादशाह अकबर का एक एलबम भी संग्रहित है जिसमें सामाजिक जन जीवन के साथ ज्योतिषीय राशि चित्रण भी दृष्टिगोचर होता है। इस एलबम में भी राशियों को प्रतीक रूप में मूर्तता प्रदान की गई है। इस शृंखला में कन्या राशि का चित्र इस एलबम का सुन्दर उदाहरण है। इस कृति में कन्या राशि को मानवीय कन्या के रूप में अंकित कर प्रतीकात्मक चित्रण का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है। राशि चित्रण में भी कलाकारों का प्रकृति प्रेम दर्शनीय है।

मुगलकालीन इन लघुचित्रों की कला जगत में विशिष्टता है। इनके रंग, पद्धति, हाशियों का चित्रण और सौन्दर्य भारतीय चित्रकला में प्रतिष्ठा रखते हैं। संभवतः मुगल शासकों के कलात्मक प्रेम में सामाजिक प्रतिष्ठा एवं लोकप्रियता भी निहित थी।

समय के गतिमान चक्र के साथ ही मुगल बादशाहों का शासन समाप्त हुआ परंतु उनका कलाप्रेम कभी विस्मृत नहीं होने दिया।

सन्दर्भ

1. गैसेला, वाचस्पति, भारतीय चित्रकला, मित्र प्रकाशन प्रा. लिमिटेड : इलाहाबाद, प्रथम संस्करण--1963, पृ.--177। **2.** डॉ. दलजीत और माथुर डॉ. वी. के. और शाह राजेश्वरी भारतीय लघुचित्र वीथिका फलक, राष्ट्रीय संग्रहालय, जनपथ : नई दिल्ली, 2003, पृ.--(मुग़ल लघुचित्रकला)। **3.** गैरोला, वाचस्पति भारतीय चित्रकला, मित्र प्रकाशन प्रा. लिमिटेड : इलाहाबाद, प्रथम संस्करण--1963, पृ.-188। **4.** http:/abyazk.blogspot.com/2009/04/-plogpost19html. **5.** प्रताप, डॉ. रीता भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी : जयपुर, तेरहवाँ संशोधित संस्करण--2012, पृ.--127। **6.** सिद्दकी, डॉ वकारूल हसन और इसलाही, अबुसाद भारत की पचासवीं स्वतन्त्रता वर्षगांठ एवं रामपुर रज़ा लाइब्रेरी, रामपुर के द्वितीय शताब्दी समारोह पर लगाई गई विशेष प्रदर्शनी का हिन्दी-उर्दू कैट्लॉग, रामपुर रज़ा लाइब्रेरी : रामपुर, पृ.--16। **7.** प्रताप, डॉ. रीता भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी : जयपुर तेहरवाँ संशोधित संस्करण--2012, पृ.--129। **8.** Allami, abul-Fazl and translated by -Blochmann, H. Ain-I-Akbari. A adiesh Book Depot : Delhi-7. Pg. 115. **9.** प्रताप, डॉ. रीता भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी : जयपुर तेहरवीं संशोधित संस्करण--2012, पृ.--137। **10.** अब्दुस्लाम, प्रो. शाह रामपुर रज़ा लाइब्रेरी 35 वीं वार्षिक रिपोर्ट--2009-2010, रामपुर रज़ा लाइब्रेरी : रामपुर, पृ.--28। **11.** अब्दुस्लाम प्रो. शाह रामपुर रज़ा लाइब्रेरी 35वीं वार्षिक रिपोर्ट--2009-2010, रामपुर रज़ा लाइब्रेरी : रामपुर, पृ.-28। **12.** डॉ. रामनाथ, मध्यकालीन भारतीय कलाएँ एवं उनका विकास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी : जयपुर, प्रथम संस्करण-1973 पृ.-14-15। **13.** सिद्दकी, डॉ.डब्लू.एच. रामपुर रज़ा लाइब्रेरी 33वीं वार्षिक रिपोर्ट 2007-2008 विशेष कार्याधिकारी, रामपुर रज़ा लाइब्रेरी हामिद मंजिल किला : रामपुर, पृ.-32। **14.** प्रताप डॉ. रीता. भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी : जयपुर, तेरहवीं संशोधित संस्करण--2012, पृ.-129। **15.** राय, कैलेशवर इतिहास दर्शन, किताब महल : इलाहबाद, बारहवाँ संस्करण--2010, पृ.-196। **16.** वर्मा, सोम प्रकाश मुगल चित्रशैली (ऐतिहासिक विश्लेषण एवं समीक्षात्मक मूल्यांकन), पंचशील प्रकाशन जयपुर : प्रथम संस्करण--1998, पृ.-25-26। **17.** प्रताप, डॉ. रीता. भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी : जयपुर, तेहरवाँ संशोधित संस्करण-2012, पृ.-145। **18.** गैरोला, वाचस्पति भारतीय चित्रकला, मित्र प्रकाशन प्रा. लिमिटेड : इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-1963, पृ.-183। **19.** प्रताप, डॉ. रीता, भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी : जयपुर, तेहरवाँ संशोधित संस्करण--2012, पृ.-157। **20.** चौहान, डॉ. इतिका, भारतीय चित्र परम्परा में आखेट दृश्य

(प्रागैतिहासिक काल से मध्यकाल), रचना प्रकाशन : जयपुर, प्रथम संस्करण--2009, पृ.-105। **21.** वही. पृ.--105। **22.** सिद्दकी, डॉ.डब्लू.एच. रामपुर रज़ा लाइब्रेरी 33वीं वार्षिक रिपोर्ट 2007--2008 विशेष कार्याधिकारी, रामपुर रज़ा लाइब्रेरी, हामिद मंजिल किला : रामपुर, पृ.-32। **23.** अग्रवाल, डॉ. वासुदेव शरण, कला और संस्कृति, साहित्य भवन प्रा. लिमिटेड जीरी रोड : इलाहाबाद, 2003, पृ.-145।

चित्रकला विभाग
वनस्थली विद्यापीठ
टोंक (राज.)-304022

●

रज़ा पुस्तकालय में मुगल-शैली के कुछ लघुचित्र

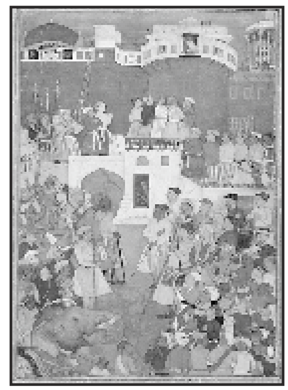

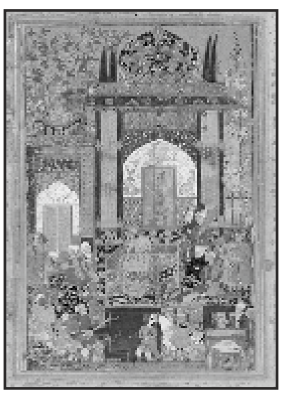

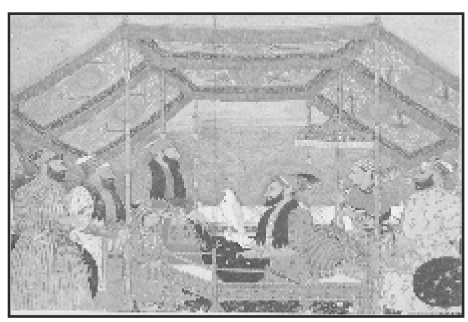

सुरम्य बूंदी

ललित शर्मा

राजस्थान प्रदेश की बूंदी नगरी की शांति और सुरम्य शोभा के कारण ऐसा कहा जाता है कि स्वाति नक्षत्र में खुली सीप में जब चेतना का प्रवाह अपने जन्मोत्सव की प्रतीक्षा में था तभी एक बूंद सहसा उछली और वह जहां गिरी वहीं आज की बूंदी नगरी है। राजस्थान प्रदेश के दक्षिण में जयपुर-जबलपुर राष्ट्रीय राजमार्ग पर बसी तथा दिल्ली-मुम्बई रेलवे लाईन पर स्थित कोटा महानगर से 36 किमी दूर पश्चिम में स्थित बूंदी नगरी अतीत से ही अपने कला, संस्कृति तथा पर्यटन का अनूठा समन्वय निहित किए हुए है। शौर्य और अद्वितीय पराक्रम की धन्य धरा यह नगरी प्रागैतिहासिक काल से आज तक के इतिहास की अमूल्य धरोहर से देशी-विदेशी पर्यटकों और इतिहासकारों को आकर्षित करती आ रही है। भव्य देव मंदिरों, छत्रियों, कुओं और बेमिसाल बावड़ियों की कलात्मक बाहुल्यता के कारण बूंदी को 'छोटी काशी' भी कहा जाता है। भाषा, काव्य तथा संस्कृति के अनेक मौलिक और उत्कृष्ट ग्रंथों की रचना के साथ ही इस नगरी में ज्योतिष, पुराण तथा शास्त्र व हिंदी कथा लेखन की भी सुदीर्घ परंपरा रही है।

बूंदी की विख्यात चित्रकला के द्वारा ही भारतीय चित्रकला संसार में लघु चित्रकारी की विशिष्ट स्कूली नींव रखी गई। इसी कारण यहां का कला वैभव आज भी विश्वभर में अपनी स्वतंत्र पहचान बनाए हुए है। बूंदी नरेश राव रतन, शत्रुसाल एवं राव माधोसिंह के युग में यहां की चित्रशैली (बूंदी कलम) ने अपना ऐसा विशिष्ट निजस्व स्थापित किया जो आज भी विश्व प्रसिद्ध कला संग्रहालयों में गर्व के साथ प्रदर्शित है। यह नगरी अंग्रेज लेखक सर रूडयार्ड किपलिंग, महाकवि टेगौर और फिल्म निर्देशक सत्यजीत रे के लिए पर्यटन की दृष्टि से आकर्षण का केन्द्र रही है क्योंकि यहां कला, साहित्य, प्रकृति व संस्कृति की सम्पत्ति का अथाह भण्डार है। यह नगरी अपने में पर्यटकों के लिए लगभग सभी प्रकार की प्राकृतिक छटाओं को समेटे हुए है। अतः जो भी एक बार यहां आता है वह वापस जल्द आने का वादा करके ही इसे छोड़कर जा पाता है। सर किपलिंग ने विशाल पहाड़ियों की गोद में बसी हरी-भरी बूंदी के अप्रतिम सौन्दर्य को जब आकाश मार्ग से देखा तब उन्होंने अपने स्मरण में यह लिखा- 'प्रतीत होता है कि यह नगरी मानव द्वारा नहीं वरन् किन्हीं प्रेतों द्वारा बसाई नगरी मालूम होती है।'

बूंदी का इतिहास 13वीं सदी से है, जब सम्राट पृथ्वीराज चौहान के बाद कुछ कुलीन चौहान शासक चंबल नदी घाटी क्षेत्र की ओर आए और यहां उन्होंने अपना शासन स्थापित किया। बाद में बूंदी अस्तित्व में आई और फिर उसने अपने मध्ययुगीन गौरव को पूरी तरह प्राप्त किया। ब्रिटिश काल तक यह एक स्वतंत्र राज्य के रूप में रही, भारत की स्वतंत्रता के

बाद यह राजस्थान प्रांत में समाविष्ट हो गई। कहा जाता है कि बूंदी का नाम यहां मीणा जाति के शासन में उसके प्रमुख सरदार 'बूंदा मीणा' के नाम पर हुआ। फिर राव हाड़ा देवा ने इस प्रदेश को अपने अधीन कर हाड़ौती प्रदेश और बूंदी राज्य की स्थापना की थी, तभी से यहां मध्ययुगीन चुम्बकीय आकर्षण वाले दुर्ग और महल, नयनाभिराम चित्रकारी, पेचीदा नक्काशी वाली मूर्तियां और सुंदर छतरियों से बने देव मंदिर, आश्चर्यजनक कुएं-बावड़ी और सुरम्य झीलें बनी। बूंदी का नयनाभिराम परिचय इस प्रकार है-

तारागढ़ दुर्ग - बूंदी नगरी की सबसे ऊंची पहाड़ी पर बना विशाल दुर्ग 'तारागढ़' कहलाता है। यह सुरक्षात्मक दृष्टि से काफी असाधारण रूप से बना हुआ है अतः इसकी बनावट बहुत विलक्षण और सुदृढ़ता लिए हुए है। दुर्ग के अन्दर अनेक विशाल जलकुण्ड देखने योग्य हैं जो मध्ययुग में ठोस चट्टानों पर सुन्दर कारीगरी करके बनाए हैं। इस दुर्ग से सैकड़ों फीट नीचे बसी बूंदी नगरी का विशाल दृश्य पर्यटकों में अद्‌भुत रोमांच पैदा करता है। उत्तरी भारत के सबसे अधिक ध्यान आकर्षण करने वाले दुर्गों में इस दुर्ग का विशिष्ट स्थान है। इसमें ऐसे विशाल परकोटे और जंगी द्वार हैं जिनमें प्रवेश करते समय इतिहासकारों और पर्यटकों को ऐसा प्रतीत होता है मानो वे प्राचीन युग की किसी संस्कृति में प्रवेश कर रहे हैं।

गढ़ पैलेस (बूंदी महल) - तारागढ़ दुर्ग के नीचे एवं नवल सागर झील के किनारे विशाल एवं कलात्मक सुघड़ पाषाणों से निर्मित 'गढ़ पैलेस' राजस्थान के शाही महलों में अपना खासा स्थान रखता है। इसमें राजपूत कालीन उत्कृष्ट वास्तुकला के नमूने देखने योग्य हैं। महल के स्मारकों पर नजर पड़ते ही शाही धन-सम्पत्ति और राजसी वैभव तथा आनन्दमय जीवन शैली का आभास होता है। पैलेस के स्तम्भ, महल एवं कुओं के छज्जे, जीवन्त भावों से तराशे हुए हाथियों की मूर्तियां और उत्कृष्ट शिल्पकारी पर्यटकों का ध्यान चुम्बकीय गति से आकर्षित करती हैं। नौबतखाना, रतनदौलत, दीवान-ए-आम, दीवान-ए-खास इस महल के अत्यन्त सुन्दर धरोहर कक्ष हैं। इनमें एक शाही अदालत है जहां बूंदी के शासकों द्वारा आम जनता की फरियाद को सुना जाता था जबकि दीवान-ए-आम का सबसे बड़ा शाही आकर्षण राजाओं के लिए बनवाया गया संग-ए-मरमर का सुन्दर राजसिंहासन है।

विश्व विख्यात चित्रकला - इन्हीं महलों के आगे छत्र महल, फूल महल और बादल महल हैं। ये महल अपनी सुन्दर भित्तियों, आलियों, छतों पर भरपूर सुन्दर और अतिभव्य चित्रकला के कारण विश्व प्रसिद्ध हैं। लाल सुनहरे और नीलवर्णीय रंग की बेमिसाल चित्रकला की आदर्श थाती को अपने में संजोए ये महल बूंदी नरेश महाराव शत्रुसाल ने बनवाए थे। इन महलों को रधाकृष्ण की उदात्त प्रेम लीला, रास माला और रासलीला से सजाये गये हैं। बूंदी शैली के इन चित्रों की रेखाएं अतिकोमल, लावण्यमयी और गतिशील हैं। इनमें भाव विविधा छिपी हुई है। इसे निकालकर इनके रस वैभव का आस्वादन करना इतिहास तथा कलामर्मज्ञों के लिए भी एक कला है। बूंदी की इस चित्रकला में निष्णात चित्रकारों द्वारा रेखाओं को गोलाकार और भुजंग वाली विधियों से अंकित किया गया है। 'मधुमालती', 'सावलिंगा'-'सदाव्रत', 'गीत-गोविन्द' तथा केशव-दास की कविताएं इन भित्तियों पर इस प्रकार उकेरी गई हैं कि इन अंकनों में रंग और रेखाएं स्वयं बोलती हैं तथा शब्दों के लिए मानो कोई स्थान ही नहीं बचा है। इसके अतिरिक्त शाही वैभव का चित्रण भी अति सुन्दरता से निष्णात चित्रकारों द्वारा कुशलतापूर्वक किया गया है जिनमें दर्पण देखती सुन्दरी, चकरी से क्रीड़ा करती किशोरी, पुष्प चयन करती युवती, हिरणों के साथ वन में अठखेलियां करती नायिका तथा राजा- रानी की विविध विलास क्रीड़ाओं का चित्रण देखने लायक है।

इन चित्रों की आकृतियां लम्बी, शरीर पतले परन्तु स्फूर्ति से भरे हैं। स्त्रियों की चित्राकृतियों में अधरों की छटा विचित्र प्रकार का सौन्दर्य बिखेरती है। इनके अधर इतने अधिक अरुण है कि उन्हें एक काली महीन-सी रेखाओं द्वारा विभाजित किया गया है।

इनके नेत्र अर्ध विकसित और घनी कालिमा के साथ चित्रित हैं। भू-प्रदेश घना, सीधा व थोड़ा झुका हुआ है। वस्त्रों में स्वर्ण रंगों से आलेखन इतने झीने व पारदर्शी बनाए हैं कि शरीर निरावरण-सा दिखाई देता है। अंलकारों में बाहुओं के नीचे लटकती जड़ाऊ बिन्दी, नाक में छोटे-छोटे मोती कपोलों पर चिपके से उकेरे गए हैं। यदि बूंदी के ये चित्र भारतीय कला में मर्मज्ञता के लिए रख दिए जाएं तो इन चित्रों के अनेक आशय हैं जो चित्र मर्मज्ञों के ज्ञान की परीक्षा लेने पर उतारू हो जाते हैं। ये चित्र अक्सर वर्तमान संस्कृति को चुनौती देने लगते हैं। बूंदी की इसी चित्रकला ने देश की लघु चित्रकला के संसार में अपना स्वतन्त्र एवं अद्वितीय स्थान बनाया है।

सुख महल - बूंदी नगर से दबलाना मार्ग पर स्थित हरी-भरी पहाड़ियों के मध्य बनी अति रमणीक जैतसागर झील के किनारे बना है खूबसूरत 'सुख महल'। यह एक आलीशान महल है। इसके परिसर में एक सुन्दर बगीचा है। इस महल का निर्माण बूंदी के रावराजा विष्णु सिंह (संवत् 1830-1878) ने करवाया था। महल की छतों पर बनी सुन्दर छत्रियों में बैठकर अथवा महल के गवाक्षों में बैठकर आसपास की हरियाली और झील को निहारने का यहां अपना ही आनन्द है।

फूल सागर - फूल सागर महल आधुनिक युग की राजपूती स्थापत्यकला का प्रतीक है। इसमें अति नयनाभिराम बाग है जो पर्यटकों को आकर्षित करता है। यहां पूर्व अनुमति से ही प्रवेश किया जाता है।

नवल सागर झील - बूंदी नगरी के महल के नीचे कटोरे के आकार की जल से लबालब भरी रहने वाली इस झील की छटा देखते ही बनती है। सूर्यास्त के समय इसकी जल राशि में पड़ने वाली राजमहल की परछाई मन को छू लेती है। इस झील के मध्य में जलदेवता वरुण को समर्पित एक सुन्दर मन्दिर है। महल से स्पष्ट दिखने वाली यह सुन्दर झील इस छोटे से द्वीप से विकिर्ण होती दिखाई देती है।

जैत सागर झील - हरे-भरे बूंदी क्षेत्र में बड़े ही सुखानुभव बनी इस झील को 'जैता मीणा' ने बनवाया था। इस झील के मध्य बना एक फव्वारा रात्रि के समय स्वर्णिम शोभा देता है। झील के चारों ओर बने बाग-बगीचे और उनके कलात्मक चबूतरे यहां के आकर्षण केन्द्र हैं जिनकी निर्माण कला देखकर पर्यटक चकित रह जाते हैं।

शिकार बुर्ज - बूंदी के रावराजा रामसिंह द्वारा निर्मित यह एक शाही शिकारगाह है। इसे चारों ओर से हरियाली व सघन वृक्षों ने घेरा हुआ है जिस कारण यहां का दृश्य अत्यन्त रमणीक है। यहां दो लघु जल कुण्ड भी है। शिकारगाह की छत्रियों से चारों तरफ की हरी-भरी प्रकृति निहारना पर्यटकों के लिये एक सुखद अनुभूति है। वन विहार के लिए यह निहायत ही एक खूबसूरत स्थल है।

क्षार बाग - इसे राजाओं की अन्त्येष्टि का बाग-बगीचा कहा जाता है। इस बाग में उत्कृष्ट वास्तुकला के लगभग 66 अंत्येष्टि स्थल हैं। इनमें से रावराजा अनिरुद्ध सिंह द्वारा अपने पालक भाई की स्मृति में बनवाई गई छत्री कला की दृष्टि से बेहद सुन्दर है।

चौरासी खंबों की छत्री - बूंदी की यह विशाल छत्री भारतीय वास्तुकला का एक अद्‌भुत उदाहरण है। राजस्थान की स्थापत्य कला में इसकी अन्यत्र मिसाल नहीं दिखाई देती है। बूंदी नरेश राव राजा अनिरुद्ध सिंह ने शिव उपासना के लिए इस छत्री का निर्माण (संवत् 1732-1752) के मध्य करवाया था। इसमें एक ही छत्री के नीचे चौरासी कलात्मक खंबे स्थित हैं। इसके ऊपर भी सोलह खंबों के ऊपर छत्री बनी हुई है। छत्री की यही छटा पर्यटकों और इतिहासकारों का मन मोह लेती है।

रानीजी की बावड़ी - बूंदी की इस निहायत खूबसूरत बावड़ी की गणना एशिया महाद्वीप की सर्वोत्तम सज बावड़ियों में होती है। इस बावड़ी का निर्माण सन 1699 ई. में राव अनिरुद्ध सिंह की रानी नाथावती ने करवाया था। यह बावड़ी कला की एक सुन्दर कलाकृति और वास्तुकला की बेजोड़ धरोहर है। इसमें उत्कृष्ट तरीके से काटकर बनाए गए स्तम्भों, सुन्दर भित्ति चित्रों और रानी जी के लिए सजाए गए कलात्मक तोरण द्वारों के साथ इसका 46 मीटर गहरा कुआं शुद्ध पेयजल का स्रोत है। इस कुए

में सुन्दर नक्काशी वाला एक गजराज की मूर्ति देखने योग्य है जिसकी सूंड़ जल में डूबी हुई है। ऐसा प्रतीत होता है मानों गजराज बावड़ी में जल पी रहे हैं। बावड़ी के स्तम्भों के महराबों की कला इस धरोहर में चार चांद लगा देती है। बावड़ी के दोनों ओर की दीवारों पर दशावतारों तथा नवग्रहों की सुन्दर मूर्तियां बनी हैं। बावड़ी के प्रवेश द्वार पर गणेश एवं सरस्वती की विशाल मूर्तियां हैं। एक मूर्ति में पनिहारिन राहगीर को पानी पिला रही है। इस कलात्मक बावड़ी में तीन द्वार हैं, इनमें से दो द्वार आमने-सामने तथा एक द्वार उनके ठीक लम्बवत कुछ सीढ़ियों के ऊपर बना है। इसी द्वार से लम्बी-लम्बी लगभग 100 से अधिक सीढ़ियों से उतर कर बावड़ी के तल तक पहुंचा जा सकता है। इस बावड़ी की रचना इस प्रकार की गई है कि तपती लू, और धूप में आम व्यक्ति यहां आकर राहत की सांस ले सके। बूंदी को 'बावड़ियों की नगरी' कहते हैं। यह पेयजल के साथ-साथ पर्यटन, धर्म और पुरातत्व की दृष्टि से आज भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

बाणगंगा (केदारेश्वर धाम) - बूंदी से 5 किमी दूर यह एक सुन्दर धार्मिक स्थल है। यहां पर पहाड़ी से होकर बहने वाले नाले को कुण्ड का रूप दिया गया है। यहां केदारेश्वर शिव महादेव मन्दिर है। यहां बाणेश्वर महादेव एक ही पाषाण खण्ड के बने हुए हैं।

मेनाल झरना - बूंदी के निकट यह एक सुन्दर प्राकृतिक स्थान है जहां चारों ओर की सुरम्य हरियाली तथा जलप्रताप पर्यटकों का मन मोह लेते हैं। यहां जलप्रताप 122 मीटर ऊपर से नीचे गिरता है जिसे निहारना सचमुच एक रोमांच है। बरसात के मौसम में तो यह स्थल अपनी भरपूर प्राकृतिक आभा से अति सुन्दर बन पड़ता है।

रामेश्वर - बूंदी से 20-22 किमी दूर यह भी एक सुन्दर स्थान है। प्राकृतिक सौन्दर्य से भरपूर यह स्थान अपने शिव मन्दिर के कारण प्रसिद्ध है। वर्षा ऋतु में यह स्थान अत्यन्त ही मोहक व सौन्दर्यमय हो जाता है। यह चारों ओर पर्वतों से घिरा हुआ है जो पर्यटकों को खूब आकर्षित करता है। यहां भी काफी ऊंचाई से गिरता जल प्रपात इसके प्राकृतिक सौन्दर्य को बढ़ाता है।

अल्फा नगर - बूंदी नगर के निकट दक्षिण में तालेड़ा के अन्तर्गत बसा है 'अल्फा नगर'। यह महत्वपूर्ण औषधियों के उत्पादन का प्रसिद्ध स्थल है। अल्फा नगर मुम्बई के फिल्मकारों का पंसदीदा फिल्म शूटिंग स्थल भी है। यहां सन्नी देवल, तब्बू, गुलजार व राजस्थान के प्रसिद्ध फिल्म निर्माता ताराचन्द बड़जात्या आ चुके हैं। इस स्थल को झालरापाटन नगरी के एक धनी व्यापारी सेठ बिनोदीराम बालचन्द सेठी ने बसाया था। यहां चारों ओर लहलहाते खेतों के मध्य बने विशाल फार्म हाउस व पुरानी कलात्मक शाही हवेली, हरे-भरे सघन वृक्ष और उन पर चहकते पक्षी, ठण्डी हवा के झोंके और इन सबके बीच बहती चम्बल की विशाल नहर की अकूत जल सम्पदा तथा संतोषी माता का सुन्दर मन्दिर, सब कुछ पर्यटकों को आकर्षित करने वाले हैं। इस स्थल के नीचे ही प्रसिद्ध 'बरधा बांध' है।

इन सब पर्यटन स्थलों के अतिरिक्त बूंदी क्षेत्र में अनेक ऐसे ऐतिहासिक, धार्मिक व पर्यटन स्थल हैं जहां इतिहासकार एवं पर्यटक राजस्थानी संस्कृति के दर्शन कर सकते हैं। इसके अलावा बूंदी के भारत प्रसिद्ध लोकोत्सवों में यहां की प्रसिद्ध 'कजली तीज' का त्यौहार देखने लायक है। यह वार्षिक लोकोत्सव प्रतिवर्ष जुलाई-अगस्त में मनाया जाता है। इसमें बूंदी की सड़कों पर शृंगार किए हाथियों की सवारियां और ऊंटों की शोभायात्रा बड़े भव्य रूप में निकाली जाती है। इनके पीछे यहां के कलाकार सुन्दर पालकी में 'तीज माता' की मूर्ति श्रद्धा के साथ लिए चलते हैं। इसी क्रम में प्रतिवर्ष नवम्बर माह में 'बूंदी उत्सव' मनाया जाता है। इसमें अनेक कलाकार सुन्दर सांस्कृतिक प्रस्तुतियां देते हैं। इसमें अनेक प्रकार की प्रदर्शनियां, प्रतियोगिताएं आयोजित की जाती हैं। इस उत्सव का आनन्द उठाने अनेक देशों के पर्यटक यहां सपरिवार आते हैं। बूंदी में ठहरने के लिए कई होटलों की अच्छी और पर्याप्त सुविधाएं हैं।

अनहद, जैकी स्टूडियो,
15 मंगलपुरा, झालावाड़ (राज.) 326001
मो. 9829896368

मारवाड़ के लोकसाहित्यिक संदर्भ

निशा

मध्यकालीन मारवाड़ राज्य की प्रादेशिक पहचान निर्माण में प्रकृति, त्योहार-मेलों और लोक साहित्य ने प्रभावशाली भूमिका का निर्वाह किया। प्रकृति के विविध रंगों और मौसमी त्यौहारी एवम् मेलों की स्पष्ट अभिव्यक्ति मारवाड़ राज्य को सांस्कृतिक पहचान है। मानव प्रकृति पर आश्रित होकर उसके रहस्यों के साथ अपनी खुशी जोड़ लेता है जिसे त्योहार, उत्सव, मेला के रूप में अपनाकर, लोकगीत गाकर व्यक्त करता है। मारवाड़ पश्चिमी राजस्थान के मरुस्थल में फला-फूला, जिसकी ऐतिहासिकता रामायण से जुड़ी हुई है।[1] मारवाड़ के लोगों ने प्रकृति के अनुरूप अपनी जीवन पद्धित को ढाला है। यहाँ पर कठोर जलवायु से लेकर, पानी एवं प्राकृतिक संसाधनों तक की अल्पता थी।

शीतला, प्लेग और अकाल से ग्रस्त क्षेत्र मारवाड़ प्रदेश के लोगों ने त्योहार, व्रत, विवाह और जन्म से लेकर मृत्यु तक के प्रत्येक चरण में प्राकृतिक रंगों और क्रियाओं को समेट लिया है, जैसे शिशु जन्म के समय उसे अपशिष्ट कूड़े की तरह फलने-फूलने का आशीर्वाद देकर दीर्घायु होने की कामना की जाती थी। विवाह के समय कुम्हार के चाक से लेकर कूड़े के ढेर तक की पूजा-अर्चना की जाती थी। मारवाड़ के राजा-महाराजा से लेकर आम जनता ने प्रकृति को अपने जीवन में धर्म की भाँति अपनाकर, उसको त्योहारों का एक अहम अंग बनाकर लोकगीतों के रूप में पिरो लिया है। प्रकृति के अनुरूप "मारवाड़ी कैलेन्डर" तीज के त्यौहार 'सावन महीने से शुरू होकर त्यौहारहीन आसाढ़ महीने' पर जाकर समाप्त होता है।[2]

प्रकृति के अनुरूप प्रत्येक त्योहार का नाम (कजली तीज, बसंत-पंचमी, अखातीज), रश्म (मौसम अनुरूप नेग-निछरावल, वस्त्र- फागणियाँ, पाघें और अन्य भेटें) और खानपान (तीज पर घेवर और जलेबी, अखातीज पर खिचड़ी, अन्नकूट पर छप्पन भोग) आदि निर्धारित कर रखा था जिसकी साक्षात् परिपाटी हमें लोकसाहित्य, लोकगाथाओं और लोकगीतों में देखने को मिलती है। मारवाड़ की ऋतु और त्यौहार एक-दूसरे के पर्याय हैं, जिसका स्पष्ट उदाहरण "बारहमासा" में परिलक्षित होता है: "गल्यौ अमल गुलवाणियाँ, खार भवना खीच। बीजी तोजां बौहली, तोखी अखा तीज।।" (कोई भी त्योहार तीज जैसा नहीं है, सभी त्योहारों में अफीम की मनुहार, खार भजणे, गुलवाड़ी और खिचड़ी से सम्बन्धित तीज का त्योहार सर्वश्रेष्ठ है) "सावण सूदी सहोदरा, चंगा ओढे चीर। पावन पुल पुरम तिथि, बाँधे राखी वीर" (श्रावणी पूर्णिमा के त्योहार के दिन सभी बहनें उत्तम पोशाक पहनकर पवित्र घड़ी

में अपने भाइयों की कलाईयों पर राखी बाँधती हैं)।[3] मारवाड़ सती-प्रथा, कन्या-वध जैसी कुत्सित परम्पराओं और स्त्री पर अनेक बंधनों से ग्रस्त था परंतु त्योहारों व अन्य सामाजिक आयोजनों में स्त्री मुखर हो उठती थी जैसे - गावे गोखा गोरियाँ, गाँव गवाडां गेर। गीत फाग नै गालियाँ, मस्ती चारू मेर।।[4] (गाँवों की गोरियाँ, अपने गाँवों के चौक में गैहर नृत्य विशेष कर व फाग के गीत और गालियाँ गाकर चारों तरफ मस्ती का आलम पैदा कर देती है)।

मारवाड़ के प्रत्येक कुल और जाति की 'कुलदेवी' है, जिसको वे प्रकृति के रूप में अन्नपूर्णा, महाकाली आदि नाम देकर लोक-जीवन की समस्याओं को दूर करने की विनती करते हैं। प्राकृतिक रूप से सूखे मारवाड़ प्रदेश में पानी के 'स्रोतों का निर्माण धार्मिक रूप से पुण्य और मोक्ष प्राप्ति का साधन माना गया है। इसी कारण हम जनाना ड्योढ़ी के नाजर चैनदान और व्यापारिक-वाणिज्यिक सेठों द्वारा बड़ी मात्रा में सरोवरों, कुओं और बावड़ियों के निर्माण कार्य करवाने का उदाहरण प्राप्त करते हैं।[5]

हकीकत बहियों के प्रलेखानुसार मारवाड़ राज्य में ऋतु अनुरूप त्योहार रश्मों का सम्पादन किया जाता है। दशहरे के त्योहार पर राठौड़ राजा हमेशा खेजड़ों या शमी वृक्ष और हाथी-घोड़ों की उपासना करते थे।[6] प्रत्येक त्योहार के मूल में ऋतु-परिवर्तन, या फसल की बुआई-कटाई और आनन्दोल्लास की अनुभूतियाँ छिपी हैं। लोक साहित्य स्थानीय परम्पराओं के अनुरूप त्योहार रश्मों को परिणति प्रदान कर देता था।[7] लोक साहित्य के माध्यम से मारवाड़ी समाज की त्योहार अफीम मनुहार रश्म की सामाजिक व्यापकता का पता चलता है।[8] ऋतु और त्योहार आपस में एक-दूसरे के पूरक बन गए थे, इसलिए वस्त्रों से लेकर भोजन तक निर्धारित था, जैसे तीज के त्यौहार पर गुलाबी रंग का लहरिया और फागणिया, जन्माष्टमी पर नारंगी-पीली चुनरी, बसन्त पंचमी पर केसरिया पाघें और लहंगा आदि।[9] प्रत्येक मारवाड़ी त्योहार प्रकृति प्रधानता का जीता जागता उदाहरण है।

त्योहार, मारवाड़ प्रदेश को कठोर प्रकृति के अनुरूप मध्यकालीन मारवाड़ी कृषक के कठिन जीवन, जीविका साधनों, कृषि-यन्त्रों की अल्पता, व्यापार, सैन्य पेशा, जीवन की खुशनुमा अनुभूतियों और विवशता का प्रतिबिम्ब है, जैसे तीज का त्यौहार प्रकृति के नवजीवन, गणेश चतुर्थी गुरु-शिष्य परम्परा अर्थात् विद्यारम्भ के मौसम की शुरुआत, दशहरा-सर्दी, अन्नकूट-कृषि सभ्यता, होली-ऋतु प्रधान सांस्कृतिक एवं कृषि उत्सव, गणगौर-फसल की कटाई और ऋतु परिवर्तन, अखातीज-कृषि कार्यों की समाप्ति और सामूहिक विवाह की सामाजिक रश्म और निर्जला एकादशी-प्रकृति की उष्णता का बोध कराती है।[10]

त्योहारों की पूजन सामग्री से लेकर रश्मों तक में प्रकृति-उपासना की प्रधानता है।[11] गणगौर और दशहरे के नवरात्र, व्रत-त्योहार पर मारवाड़ी जन समाज मिट्टी की प्रतिमाएँ बनाकर उसके सामने जवारा यानी जौ उगाकर, दूब यानी घास और फूलों से उपासना और नीम या कैर की दातुन कराकर पानी पिलाने की धार्मिक रश्म का निर्वाह करता है।[12] ताकि प्रकृति माता अच्छी फसल और प्राकृतिक प्रकोपों को दूर करके जीवन सुखदायक बना दे। स्थानीय जन समाज गीतों में प्रकृति माता की महानता और जल-स्रोत निर्माण कर्ताओं के नाम उच्चारित करके उन्हें अमर बना देता था।[13]

मारवाड़ी महिलाएँ त्यौहारों पर कृषि-यन्त्रों और पशुओं की जैसे बछ-बारस पर गाय और बछड़े की उपासना करके पशु-संख्या बढ़ाने और सन्तान प्राप्ति की कामना, अन्नकूट पर गाय के गोबर गोवर्धन भगवान की उपासना द्वारा अच्छी फसल और हीड़ गीत (नजर उतरन) गाकर दैवीय प्रकोपों को दूर करने की विनती करती हैं।[14] जनसमाज की मंगल कामना के लिए राठौड़ शासक नवरात्रों पर भैंसे और बकरे की बलि देते थे।[15] शीतला सप्तमी को रात्रि जागरण करवाते थे, ताकि प्रजा का कुशल-मंगल रहे।[16] इसके अलावा जनसमाज से लेकर शाही परिवार तक त्योहार और प्रकृति के अनुरूप मौसमी भोजन ग्रहण करते थे। तीज पर घेवर और जलेबी, शीतला सप्तमी पर आधा-पोहा यानी ठण्डा भोजन और आखातीद्र पर

खिचड़ी का सेवन किया जाता है।[17] इस प्रकार ऋतु और त्योहार एक-दूसरे के पूरक बन गए हैं। प्रकृति की उपासना करके प्राकृतिक प्रकोपों यानि बीमारियों आदि से बचने के लिए ऐतिहायती उपायों बतौर भोजन और मिष्ठान आदि ग्रहण किया जाता था। राठौड़ शासक प्रजा के समक्ष इन सुरक्षा उपायों का पालन करके परम्परा बतौर आदर्श रखते थे।

लोक-साहित्य सांस्कृतिक इतिहास के सर्वांगीण विकास को अपने आँचल में समेटे हुए है, जोकि लोकगीतों, कथाओं, कविताओं और दोहा-छप्पयों द्वारा मारवाड़ प्रदेश की विरासत की अमूल्य धरोहर हैं। लोकगीतों का मुख्य सन्दर्भ समाज यानी ग्रामीण लोगों की रोजमर्रा जिन्दगी और उसमें इस्तेमाल होने वाले उपादान हैं। मारवाड़ी समाज लोक-साहित्य के माध्यम से राठौड़ राजाओं के त्याग, शौर्य, साहस और बलिदान के चारित्रिक गुणों को एक नया आयाम प्रदान करता है, जैसे घुडला, गणगौर त्योहार में राव सातल की वीरता और नारी रक्षक चारित्रिक शौर्यवान गुणों की प्रशंसा और स्मृति में मनाया जाता है। मारवाड़ के ग्रामीण अंचलों की महिलाएँ बछड़े के गले में घुडल्या खाँ के प्रतीक घड़े के ठीकरों को माला रूप में पिरोकर **'घूडल्या घूमै छै, घूडल्या घूमै छै'** गीत गाकर नारी समाज को घृणा का बोध कराती है।[18] महाराजा जसवन्त सिंह और राव अमरसिंह के शासन की न्यायसंगता और जनप्रियता तथा महाराजा अजीतसिंह की कठिन राजनैतिक परिस्थितियों में पालन-पोषण करने वाली धायमाँ गोरा और संरक्षक दुर्गादास राठौड़ के सदा धन्य और अमर रहने की कामना करती हैं।[19]

मारवाड़ी लोक-साहित्य शाही दरबार से ग्रामीण जनसमाज की परम्पराओं का भी आईना है। लोकगीतों से हमें त्योहारों के दौरान अपने बड़ों और संरक्षकों को 'रामा-सामा यानी अभिवादन', दवात-कलम पूजन और तेल बाँटने की सामाजिक-राजनैतिक परम्परा का परिचय होता है।[20] लोक-साहित्य त्योहारों के दौरान प्रतिद्वन्द्वी शासकों द्वारा की जाने वाली राजनैतिक आघात नीतियों का भी प्रतिबिम्ब है। गणगौर का त्योहार एक तरफ चूड़ा-चून्दड़ी की अमरता, दूसरी ओर गणगौर सवारी के समय प्रतिमा लूटने या अपहरण करने की राजनैतिक आघात और अपमान करने की परम्परा का उत्कृष्ट उदाहरण है, जैसे सीधपुरी के रामसिह खंगारोत ने मेड़ता गणगौर को लूटकर अपने आप को लोक-साहित्य में सदा-सदा के लिए अमर बना दिया थाः- मरद तूझ आसंग दूसरा माधवा, अभंग दूदाण ऊभा अथागा। मेड़ता तणी गणगौर मीटी पणै, खागंड़ी लिपायों पांण खागा।।[21] (हे रामसिंह तुम श्रीकृष्ण समान हो, तुमने मेड़ता की गणगौर लूटकर, खांगड़ी के पुरूषों का मान-अभिमान मिट्टी में मिला दिया)।

साहित्य त्योहारों के दौरान भरने वाले मेलों की लोकप्रियता का भी बखान करता है। ग्रामीण अंचलों की महिलाएँ तीन दिन के गणगौर त्योहार के मेले, तीज और शीतला सप्तमी के मेले में बड़ी उत्सुकता से और सज-धज कर जाती थी।[22] मेलों में होली पर चंग और धपधुन पर गैहर और ढोल नृत्य आदि, स्वांगों और नौटंकी का प्रदर्शन किया जाता था। मेले केवल स्थानीय लोगों की कला के प्रदर्शन का ही स्थल नहीं थे, अपितु गुजरात और समस्त राजस्थान से व्यापारी आकर वस्तुओं का क्रय-विक्रय करते थे। जिसका साहित्य में भी उल्लेख प्राप्त होता हैः- चून्दड थारी जात दे/जात पडी गुजरात दे/गुजरात रा वाण्या।

सेस तम्बु ताण्या/राणी जितौ राज दै /गौर जितौ सुहाग दै।।[23]

(चुन्नी महिलाओं की इज्जत होती है जोकि गुजरात से आती है, गुजरात के बनियाँ मारवाड़ प्रदेश के मेलों में क्रय-विक्रय के लिए तम्बू तानकर यहाँ की महिलाओं को सदा सुहागिन रहने का आशीर्वाद देते हैं, रोजगार के लिए)।

इस प्रकार मारवाड़ राज्य और उसकी प्रकृति का त्योहार मेलों और लोक-साहित्य के तहत रंगमय विवरण प्राप्त होता है। लोक-साहित्य मारवाड़ी जनसमाज के दैनिक जीवन से लेकर राजनैतिक समस्याओं, मनोरंजन, व्यापार, प्रकृति, त्योहार-मेलों और मनोदशा तक का आईना है। जोकि उन्हें निरन्तर

अभिव्यक्ति प्रदान करके जन समाज में जीवन उमंग का बदलाव के साथ प्रवाह करता रहता है।

संदर्भ

1. पं. विश्वेश्वरनाथ रेउ, मारवाड़ का इतिहास, भाग-1, (जोधपुरः महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध केन्द्र, 2009), पृष्ठ संख्या, 2-3, ऐतिहासिक भगवान श्री राम द्वारा समुद्र को सूखा देने वाली घटना के कारण मारवाड़ क्षेत्र के भोगौलिक पर्यावरण में बदलाव आ गया था, जिसकी पुष्टि वहाँ पर मिलने वाले सीप-शंखों आदि से होती है। **2.** जमा रो खातो कपड़ा रै कोठार, बही नः 1, वि.स. 1843 (1786), महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश, जोधपुर, राठौड़ां री ख्यात, भाग-1, संपा, हुक्मसिंह भाटी, (जोधपुरः राजस्थानी ग्रन्थागार, 2007), पृष्ठ, 4 और राणीमंगा भाटों की बही, संपा, महेन्द्रसिंह नगर, (जोधपुरः महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाशन, 2002)। **3.** कैलाशदान उज्ज्वल, बारहमासा, पृष्ठ संख्या, 8-20। **4.** वही, पृष्ठ, 42। **5.** मुहणौत नैन्सी, मारवाड़ परगना री विगत, भाग-1, (जोधपुरः राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, 1958), पृष्ठ संख्या, 566-91 और डॉ. योजना शर्मा, राजस्थानी लोकगीतों की संरचना, (जोधपुरः विवेक पब्लिशिंग हाउस, 2000), पृष्ठ, 205। **6.** जोधपुर हकीकत बही, बही नः 1, वि.स. 1821-30, पत्र संख्या, 14, 52, 70, 364। **7.** डॉ. योजना शर्मा, राजस्थानी लोकगीतों की संरचना, पृष्ठ, 196। **8.** जसवंत सिंह, राजस्थान के राजवाड़ी गीत, भाग-1, (जयपुर और उदयपुरः संघी प्रकाशन, 1990), पृष्ठ संख्या, 176-77 और कैलाशदान उज्ज्वल, बारहमासा, पृष्ठ, 8। **9.** कपड़ा रे कोठार री बही, बही नः 20 पत्र संख्या, 27-9, महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश, जोधपुर। **10.** त्योहार और ऋतु के लिए देखिए डॉ. योजना शर्मा, राजस्थानी लोकगीतों की संरचना, पृष्ठ संख्या, 196-213 और कोतवाली चबूतरा जमाबंदी, बही नः 753, परगना जालौर, वि.स. 1833 (1776), जोधपुर अभिलेखागार, राजस्थान। **11.** मारवाड़ रै उच्छब री बही, वि.स. 1805-52, महाराज मानसिंह पुस्तक प्रकाश, जोधपुर। **12.** देखिए मिट्टी की प्रतिमाओं के लिए जोधपुर हकीकत बही, बही नः 1, वि.स. 1821-30, पत्र संख्या, 263, जौ उगाने के लिए देखिए जोधपुर सनद परवाना बही, बही नः 1, वि.स. 1820-21 (1763-64), पत्र संख्या, 82, और कैर की दातुन के लिए देखिए महेन्द्रसिंह नगर, मारवाड़ के राजवंश की सांस्कृतिक परम्पराएँ, भाग-2, पृष्ठ संख्या, 474-83। **13.** डॉ. योजना शर्मा, राजस्थानी लोकगीतों की संरचना, पृष्ठ संख्या, 200-07। **14.** देखिए वही, पृष्ठ संख्या, 30-2 और फलदायी परिणामों के लिए देखिए पृष्ठ, 217। **15.** महेन्द्रसिंह नगर, मारवाड़ के राजवंश की सांस्कृतिक परम्पराएँ, भाग-1, पृष्ठ संख्या, 297-98। **16.** महाराजा श्री मानसिंहजी साहब के पड़दायतजी श्री पनरायजी की सरकार तालुकै नौरा, तालुका जमा खर्च री मेल1 संवत रा 1889 रा सावण वद् 1 शनिवार के आषाढ सुद 15, कुल 12 मास, महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश, जोधपुर। **17.** देखिए घेवर और जलेबी के लिए स्वरूप कँवर बाई री विवाह री बही, बही नः 400, पत्र संख्या, 84/193, राधा-पोहा के लिए देखिए जोधपुर हकीकत बही, बही नः 1, वि.स. 1821-30, पत्र संख्या, 271 और खिचड़ी के लिए देखिए जोधपुर सनद परवाना, बही नः 1, वि.स. 1820 (1763), पत्र संख्या, 58 एवम् संखवास ठिकाने का इतिहास, भाग-2, संपा, गजेन्द्रसिंह चौहान, पृष्ठ संख्या, 295-96। **18.** मालाणी का इतिहास, संपा, बी.एल. भदानी, (जयपुरः विवेक पब्लिशिंग हाउस, 2000), पृष्ठ संख्या, 54-5 और शक्तिदान कविता, संस्कृति री सौरभ, (जोधपुरः राजस्थानी साहित्य संस्थान, 1989), पृष्ठ संख्या, 12-3। **19.** शासकों की न्यायप्रियता के लिए देखिए महीपालसिंह राठौड, गणगौर के लोकगीत, (जोधपुरः सुधन प्रकाशन, 1998), पृष्ठ, 79 और धायमाँ गोरा के लिए देखिए जसवन्तसिंह, राजस्थान के रजवाड़ी गीत, (जयपुरः विवेक पब्लिशिंग हाउस, 2000), पृष्ठ संख्या, 159-61। **20.** शक्तिदान कविता, संस्कृति री सौरभ, पृष्ठ संख्या, 26-7। **21.** सौभाग्यसिंह शेखावत, राजस्थानी साहित्य, संस्कृति और इतिहास, (जयपुरः द स्टूडेण्ट्स बुक कम्पनी, 1991), पृष्ठ संख्या, 25-9। **22.** डॉ. योजना शर्मा, राजस्थानी लोकगीतों की संरचना, पृष्ठ, 200 और शक्तिदान कविता, संस्कृति री सौरभ, पृष्ठ संख्या, 11-6। **23.** अर्जुनसिंह शेखावत, राजस्थानी व्रत कथावां, (नई दिल्लीः साहित्य अकादमी, 1999), पृष्ठ, 72।

H. No. -708, Village - Tikri Kalam
New Delhi-110041
Mob. : 9599560417
E-mail : nisharavibhardwaj@gmail.com.

●

विश्वप्रसिद्ध छायाकार वामन ठाकरे

रामटेक, मध्य प्रदेश में एक साधारण परिवार में जन्मे, राज्य के समाज कल्याण विभाग में सेवारत वामन ठाकरे छायांकन (फोटोग्राफी) के क्षेत्र में आज अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। उनके भीतर छिपी कला की दृष्टि ने कैमरे का माध्यम चुना और अपने छायाचित्रों से बराबर लोकप्रियता पाते गए। एक से एक कलात्मक चित्र उन्होंने अपने कैमरे से उतारे हैं। उनकी सूक्ष्म दृष्टि ने मानवता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य को खूब पकड़ा है। उनके फोटोग्राफ्स में सब्जेक्ट और स्टाइल का गहरा संगम है। किसी सुन्दर चित्र या कविता की तरह उनके छायांकन हमें बाँध लेते हैं। देश-विदेश में उनके फोटोग्राफ्स की कई नुमाइशें हो चुकी है जिनमें उन्हें बहुत सम्मान व पुस्कार मिले हैं। ठाकरेजी को यूनेस्को की तीन विश्व संस्थाओं से फैलोशिप मिली है। विश्व के ग्यारह देशों की राष्ट्रीय फोटोग्राफी संस्थाओं ने सम्मान दिए व फेलोशिप दी हैं। ब्रिटेन, अमेरिका, स्विटजरलैण्ड की फोटोग्राफिक सोसाइटियों ने सम्मान-उपाधियाँ दी हैं। फोटोग्राफिक सोसाइटियों के संगठन के कार्य उन्होंने राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर किया है। इनमें वे उच्च पदों पर रहे हैं। विश्व के अनेक देशों में ठाकरेजी के हजारों चित्र प्रदर्शित हो चुके हैं और उनमें सैकड़ों को पुरस्कार मिले हैं। इनकी अनेक एकल प्रदर्शिनियाँ भी हुई हैं। अनेक फोटोग्राफरों की प्रदर्शनियों में भी इनके फोटोग्राफ्स प्रशंसित हुए हैं। देश-देशांतर से इन्हें न जाने कितने काम मिल चुके हैं। फोटोग्राफ्स विषय पर इनकी तीन पाठ्य पुस्तकें भी हैं। कितने ही सचित्र लेख विश्वभर की पत्रिकाओं में छप चुके हैं। अनेक देशों के चित्र-संग्रहालयों में इनके चित्र संग्रहीत है। आपको 1972 में राष्ट्रपति द्वारा नेशनल एवार्ड दिया गया था। मार्च 23, 2007 को राष्ट्रपति कलाम ने इन्हें "पद्मश्री" उपाधि दी, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति म.प्र. ने दोबारा विशिष्ट सम्मान दिया 1988 व 2005 में। म.प्र. शासन ने भी 1988 में "शिखर सम्मान" दिया। कला अकादमी कर्नाटक ने 1995 में सम्मानित किया। आन्ध्र राज्य अकादमी ऑफ फोटोग्राफी द्वारा 1942 में "सर्वात्तम कैमरा कलाकार" का सम्मान दिया गया। विश्वस्तर पर अनेक और देशों से मिले सम्मानों की एक लंबी सूची है। वामन ठाकरे के कुछ शीर्षकांतिक फोटोग्राफ्स ने तो

अभिभूत कर दिया जिनके आधार पर कविताएं रची गई, जो यहाँ प्रस्तुत हैं।

कुहासी किरणें :

जीवन के सघन वन-प्रांत के/ निविड़ अन्धकार को/ चीर कर/ आती हुई सूर्य की किरणें/ वैसा ही सुख देती हैं/ जैसे तुम्हारी यादें, जो/ छन-छन कर आती हैं !

सामूहिक श्रम के क्षण :

श्रम-साध्य कार्य जब/ मिल-जुल कर किए जाते हैं/ समूहों में/ टोलियों में/ थकान नहीं देते/ वे देते हैं/ आनन्द के क्षण भी/ पारिवारिक एकता की अनुभूति भी/ देखा है तुमने/ कभी पूछा है तुमने/ सिर पर रखी टोकरियों में/ ईंट-गारा ढ़ोते मजदूरों से?

मानसूनी बादल :

मानसून के बादल/ खत्म करते हैं/ प्रतीक्षा की घड़ियां/ जैसे तुम आती हो/ बिना बरसे/ चली जाती हो/ और मैं प्रतीक्षारत/ अगली बार के लिए/ फिर तुम कब आओगी......?

गप्पें :

काश एक बार फिर/ हम बच्चे बन जाते/ आपस में बैठ कर/ करते बातें बाल-सुलभ/ भोली-भाली, मीठी-मीठी/ करते कल्पनाएं/ बे-सिर-पैर की बातें/ कितने बेसुध होते/ दिन, दोपहर, रातें/ बातें ही बातें/ गप्पें ही गप्पें !

लस्ट :

उस क्षण/ तुम्हारी आँखों में/ उगे हुए थे प्रश्न/ दृष्टि में तीक्ष्ण मधुर चुभन/ अधरों पर अनबोल आमंत्रण/ हृदय का आकुल भाव/ तुम्हारी मुखाकृति पर/ घिर-घिर कर छाया था/ तुमने मुझे अपने पास बुलाया था/ बिना कुछ बोले/ बिना कुछ कहे ....।

डॉ. संत कुमार टण्डन 'रसिक'
125/40- ए, ब्लाक '0'
गोविन्द नगर
कानपुर - 208006
फोन-0532-3254587

प्रतिस्वर

साहित्य मण्डल नाथ द्वारा आयोजित हिंदी दिवस समारोह में भारतीय विद्या मंदिर की द्वैमासिक पत्रिका का मार्च-अप्रैल 2024 अंक देखने का सुयोग प्राप्त हुआ जो सरस्वती का दर्शन-मंच है। संपादकीय में प्रकृति का महाभाष्य संपादक की अद्‌भुत वाणी है। अध्यक्षीय में जीवन-मूल्यों के प्रति आग्रह के लिए कृतज्ञता का अनुभव हो रहा है। इस सारस्वत साधना के लिए साधुवाद। अंक में भारतीय संस्कृति का बीजरूप, लोकमन और मिथक, लोक साहित्य और मिथक, एक लोकनाट्य विधा, हरियाणवी ऐतिहासिक लोक गाथाएं, जनजातियों में गोदना, टेसू विवाह, लोकोक्ति, राजस्थान के संस्कृत अभिलेखों में नारी शिक्षा अत्यंत सुंदर हैं। राम के वंशज कौन प्रेरणादायक दिखाई पड़ा। गागर में सागर आपकी पत्रिका वंदनीय और अनुकरणीय है।

डॉ. हरिप्रसाद दुबे
गायत्रीदेवीनगर, रामपुरभगन, अयोध्या, उ.प्र.-224203
मो.-9454854511

स्वत्वाधिकारी भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता के लिए सचिव शंकरलाल सोमानी द्वारा कल्याणी प्रिंटर्स, अलखसागर रोड, बीकानेर के लिए कंप्यूटर-एन-मीडिया, 25ए, सी.आर. एवेन्यू, कोलकाता-72 में मुद्रित एवं भारतीय विद्या मंदिर से प्रकाशित। संपादक-डॉ. बाबूलाल शर्मा।

भारतीय विद्या मंदिर द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

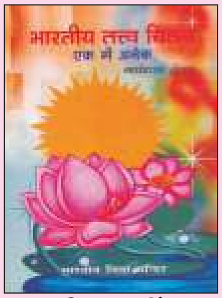

भारतीय तत्त्व चिंतन
माधोदास मूंधड़ा
मूल्य 150/- पृ.सं. 190

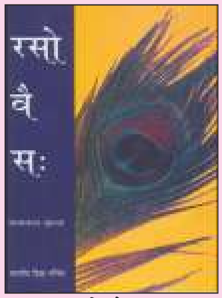

रसो वै सः
माधोदास मूंधड़ा
मूल्य 150/- पृ.सं. 165

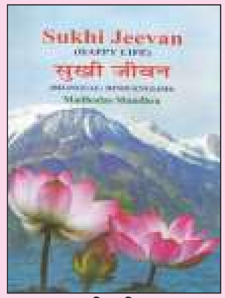

सुखी जीवन
माधोदास मूंधड़ा
मूल्य 275/- पृ. सं. 216

हिन्दी भाषा-साहित्य में बंगालेर अवदान
डॉ. बाबूलाल शर्मा
मूल्य 800/- पृ. सं. 352

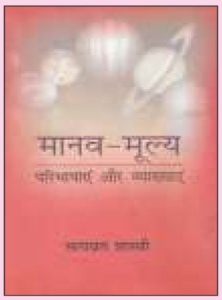

मानव मूल्य परिभाषाएं और व्याख्याएं
सत्यव्रत शास्त्री
मूल्य 550/- पृ. सं. 304

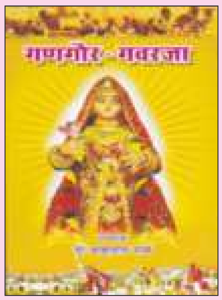

गणगौर-गवरजा
डॉ. बाबूलाल शर्मा
मूल्य 400/- पृ. सं. 264

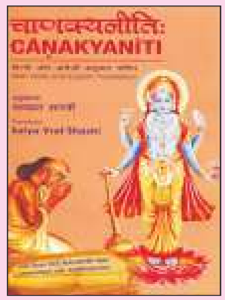

चाणक्यनीतिः
सत्यव्रत शास्त्री
मूल्य 295/- पृ.सं. 194

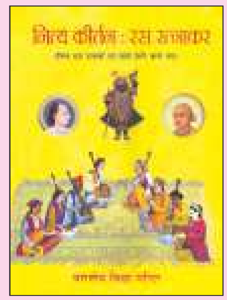

नित्य कीर्तन : रस रत्नाकर
मूल्य 900/-

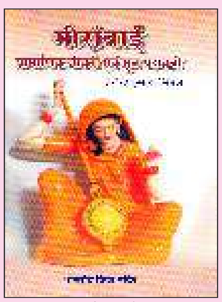

मीरांबाई
प्रामाणिक जीवनी एवं मूल पदावली
संपा. ब्रजेन्द्र कुमार सिंहल
मूल्य 900/- पृ.सं. 584

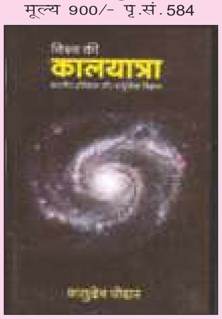

विश्व की कालयात्रा
डॉ. वासुदेव पोद्दार
मूल्य 700/- पृ. सं. 409

पुस्तकादेश हेतु संपर्क करें
शंकरलाल सोमानी, सिम्प्लेक्स हाउस, 27, शेक्सपीयर सरणी, कोलकाता-700 017 मोबाइल : 09830559364 ई-मेल : shankar.somani@simplexinfra.com

साहित्य मण्डल, नाथद्वारा (राजस्थान) द्वारा हिन्दी दिवस समारोह में "वैचारिकी" के संपादक डॉ. बाबूलाल शर्मा को "हिन्दी भाषा शिरोमणि" पुरस्कार देकर सम्मानित किया गया।

VAICHARIKI Bi-Monthly • ₹50/- September-October 2024 R.N.I. No. 22298/71

From
BHARATIYA VIDYA MANDIR
12/1, Nellie Sengupta Sarani
Kolkata - 700087 *(W.B.)*

TO

भारतीय विद्या मंदिर द्वारा न्यूटाउन के रवीन्द्रतीर्थ में आयोजित विज्ञान के सेमिनार में अमेरिका से पधारे विख्यात वैज्ञानिक डॉ. असीम गोस्वामी अध्यक्ष डॉ. बी.डी मूँधड़ा, सिम्पलेक्स इंफ्रास्ट्रक्चर के चेयरमैन श्री राजीव मूँधड़ा तथा सचिव शंकर सोमानी।

श्री झाबर सिंह खर्रा राजस्थान सरकार में नगरीय विकास मंत्री को पुस्तकें भेंट करते हुए श्री राजीव मूँधड़ा दाहिने श्री अर्जुन राम मेघवाल विधि और न्याय राज्यमंत्री (स्वतंत्र प्रभार) और संसदीय कार्य राज्यमंत्री एवं अन्य।

भक्ति वेदान्त इंस्टीच्यूट द्वारा आयोजित सेमिनार में उपस्थित हैं हिज होलीनेस दलाई लामाजी, दाहिने से डॉ. बी.डी. मूँधड़ा, श्री वासुदेव राव एवं बायें से डॉ. पी. बी. शर्मा।

कोलकाता के सत्संग भवन सभागार में पितृपक्ष पर आयोजित श्रीमद्‌भागवत कथा में प्रो. पं. आकाश शर्मा से आशीर्वाद लेते हुए डॉ. बी.डी. मूँधड़ा, श्री राजकुमार सुरेका, श्री शंकरलाल सोमानी एवं श्री राममोहन लाखोटिया उपस्थित हैं।

निर्वाण पीठाधीश्वर आचार्य महामंडलेश्वर राजगुरु (बीकानेर) स्वामी विशोकानंदजी भारती महाराज को वैचारिकी की प्रतिलिपि भेंट करते हुए प्रबंध संपादक शंकरलाल सोमानी।

दी जयपुर डायलॉग द्वारा आयोजित तीन दिवसीय कॉनफ्रेंस में भारतीय विद्या मंदिर के बुक स्टॉल में अध्यक्ष डॉ. बी.डी. मूँधड़ा, संपादक डॉ. बाबूलाल शर्मा, प्रबंध संपादक शंकरलाल सोमानी एवं अन्य विद्वानों एवं वैज्ञानिकों से विचार-विमर्श करते हुए।

• वैचारिकी •
सितंबर-अक्टूबर 2024 भाग 40 अंक 5